

श्री गणेशाय नमः

सर्वदर्शन समन्वय–एकचिन्तन

लेखक

परमहंस स्वामी वामदेव

सहायक

स्वामी महानन्द

प्रकाशक : भगवत सिंह, बामनौली

वेदान्त विज्ञों से
विशेष निवेदन

स्वर्गाश्रम कैवल्य कुटी के निवासी २० वर्ष पर्यन्त
दर्शनशास्त्रों के अनवरत अभ्यासी श्री स्वामी
शंकरानंद जी द्वारा लिखित सर्वदर्शन–
समन्वय ग्रंथ को कुछ और गवेषणा
की ओर जाने के लिये अप्रामाणिक
सिद्ध कर दर्शनों का प्रामाणिक
समन्वय प्रदर्शन करता हुआ
वेदान्त प्रेमियों के लिये यह
ग्रंथ सादर उपस्थित है,
अतः अवश्य पढ़िये ।





20-4



श्री गणेशाय नमः

सर्वदर्शन समन्वय–एकचिन्तन

लेखक

परमहंस स्वामी वामदेव

सहायक

स्वामी महानन्द

प्रकाशक : भगवतसिंह, बामनौली

मुद्रक : विशाल प्रिंटर्स, २/३४ रूप नगर दिल्ली-७

प्राक्कथन

स्वर्गाश्रम ऋषीकेश निवासी श्री शंकरानन्दाख्य आधुनिक विचारकों ने सर्वदर्शन समन्वय नामक ग्रंथ का प्रकाशन कर काशी आदिक यत्र-तत्र स्थलों में विद्वानों को वितरण किया है। इस ग्रंथ के वेदांत विषयक अनेक आक्षेपात्मक विषयों पर लेखक का वेदांत विज्ञों के साथ विचार विमर्श, ग्रंथ प्रकाशन से पूर्व असकृत हुआ है। इस ग्रथ में विचार विमर्श के समय दिये हुए उत्तर न लिखकर केवल उन्हीं आक्षेपों को जैसा का तैसा लिख दिया गया है। जैसा कि मायावाद खण्डन नामक प्रकरण में उन्होने आक्षेप किया है कि "किसी भी उपनिषद् की श्रुति ने विद्या निवर्त्य अविद्या को स्पष्ट असंदिग्घ रूप से जगत् का उपादान कारण नहीं कहा" इस आक्षेप के उत्तर में नादविंदु उपनिषद् की श्रुति उनको लिखी गई थी, किंतु उस श्रुति का प्रदर्शन किये बिना यह पूर्वोक्त आक्षेप कुछ शब्द संशोधन पूर्वक जैसा का तैसा लिख दिया है। आवश्यक तो यह था कि श्रुति को लिखते तथा उस पर कुछ विचार करते, पुनः आक्षेप को दोहराते। किंतु ऐसा नहो किया है। अविद्या को स्पष्ट रूप से उपादानकारण कथन करने वाली श्रुति यह है :—

उपादानं प्रपंचस्य मृद्भाण्डस्येव पश्यति।
अज्ञानं चेति वेदान्तैस्तस्मिन्नष्टेक्व विश्वता ।।ना०वि० २५

अर्थ :— घटादि पात्र के मृत्तिका की तरह प्रपंच का उपादान कारण अज्ञान है ऐसा जान लेने पर तो वेदान्त वाक्यों से उस अज्ञान के नष्ट होने पर विश्व कहां रहेगा। अर्थात् कहीं नहो रहेगा। इस श्रुति ने वेदान्त वाक्य जन्य ज्ञान से निवर्त्य अज्ञान को स्पष्ट तथा असंदिग्ध रूप से जगत का उपादान कारण कहा है। और भी श्रुतियां दिखाई थीं, जिन सब को मायावाद खण्डन के लिये लिखे जाने वाले मायावाद मण्डन नामक प्रकरण में दिखाऐंगे। ग्रंथ लेखक का यह क्रम देखकर यह विचार हुआ है कि, दिये हुए उत्तर लिखकर यदि समन्वय के ऊपर विचार किया तो समन्वय सूक्ष्मगवेषणाकी ओर अवश्य अग्रसर होगा। पूज्य स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज ने सर्वदर्शन समन्वय की शुभाशंसा में कहा भी है कि 'हमारा विश्वास है कि प्रज्ञावान् पुरुष इस (सर्वदर्शन समन्वय) पर विचार करेगें और अधिक गवेषणा की ओर प्रोत्साहित करेगें" इस, महापुरुषों के आदेश, के परिपालन, एवं अन्य सर्वदर्शनों के निष्पक्ष विद्वानों की निष्पक्षता का आधारभूत समन्वय प्रदर्शन, के लिए "सर्वदर्शन समन्वय—एकचिन्तन" नामक यह स्वल्प-

20-4

काय ग्रंथ विद्वानों की दृष्टि से स्वबोध के पावित्र्य हेतु उपस्थित किया जा रहा है। आशा है कि प्रज्ञावान पुरुष मनोयोग पूर्वक दृष्टिपातपूर्वक पवित्र करेगें।

विशेषसूचना :— इस ग्रंथ में यत्र तत्र लेखक शब्द आया है। उसका अर्थ सर्वदर्शन समन्वय के लेखक स्वामी शंकरानंद ही समझने चाहियें।

संदेह-निवारण

लेखक ने अपने ग्रंथ की भूमिका में लिखा है कि "प्रौढ़ाति प्रौढ़ अद्वैत सिद्धि आदिक वेदांतग्रंथों का तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म न्याय वार्तिक तात्पर्य टीका न्याय कुसुमाँजलि आदिक न्याय ग्रंथों तथा अन्य संप्रदाय के भी क्लिष्टातिक्लिष्ट ग्रंथों का दश-दश वर्ष पर्यन्त अध्ययन किया है" इस कथन से उन्होंने अपनी योग्यता का प्रदर्शन किया है। जिससे दर्शनग्रंथों में उन की अभूतपूर्व योग्यता का आभास पाठक के हृदय में होना स्वाभाविक है। तथापि वेदान्त के विपक्ष में जो पूर्वपक्ष उपस्थित किये हैं उन पर जो सूक्ष्माति सूक्ष्म विचार अद्वैत सिद्धि आदिक ग्रंथों में किये हैं, उन विचारों को इनके ग्रंथ में न देखकर तथा आत्मवाद प्रकरण के पृष्ठ ७० पर पूर्व पक्षियों की दृष्टि में स्वप्रकाश शब्द के अर्थ में कर्तृकर्म दोष की भ्रांति निवारण के लिए "स्वयंप्रकाश शब्द का अर्थ अपने आपको जानना नहीं किंतु स्वसिद्धि में अन्य प्रकाश की सापेक्षता का अभाव ही है। इसलिए कर्तृकर्म दोष की प्राप्ति नहीं होगी" अपने ही इस कथन से कर्तृकर्म दोष का निवारण कर पृ० ७३ पर पूर्वोक्त स्वंय प्रकाश का अर्थ मानने से इस प्रकार कर्तृकर्म दोष होगा, ऐसी कोई भी युक्ति न देकर वेदआज्ञा की भांति निर्णय दे दिया कि "स्वप्रकाश पक्ष में कर्मकर्तृदोष अपरिहार्य है" इस निर्णय को देखकर यह संदेह हृदय में होता था कि प्रौढ़ातिप्रौढ़ वेदान्त ग्रंथों के अध्ययन करने पर भी विचार सरणि इतनी शिथिल क्यों हैं? एवमेव पृ० ८३ पर "यद्यपि व्यवहार काल में अधिकतर ज्ञानों में प्रमात्व का निश्चय स्वाभाविक ही प्रतीत होता है, तभी तो मनुष्य की शंका रहित इष्ट अनिष्ट विषय में प्रवृत्ति निवृत्ति होती है, तो भी उक्त प्रमात्व का निश्चय प्रमात्व के स्वतः होने के कारण नहीं होता किन्तु व्यवहार काल में अधिकतर ज्ञान यथार्थ होने के कारण ज्ञान के साथ प्रमात्व की व्याप्ति के संस्कार हृदय में अत्यन्त आरूढ़ हो जाते हैं। पुनः किसी ज्ञान के उदय

होते ही ज्ञानत्व रूप साद्दश्य से उक्त व्याप्ति संस्कारों का उद्बोधन होकर अतिशीघ्र अनुमान द्वारा परतः ही प्रमात्व का निश्चय होता है। यह अनुमान अति शीघ्र अस्पष्ट होने के कारण प्रमा में परतस्त्व की प्रतीति न होनेके कारण स्वतस्त्वसा प्रतीत होता है''।

इस कथन पर न्याय शास्त्र की विचारधारानुसार दृष्टि डालने पर यह सन्देह होता था कि नैयायिक तो अधिकतर सहचार देखने पर भी यदि एक भी स्थान में व्यभिचार की प्राप्ति हो जाती है तो व्याप्ति निश्चय नहीं मानते। किन्तु लेखक रज्जुसर्पादि के अनेक ज्ञानों में अप्रमात्त्र अनुभव करने पर भी ज्ञानत्व तथा प्रमात्व की व्याप्ति सूक्ष्मातिसूक्ष्म न्याय ग्रंथों के ज्ञाता होने पर भी कैसे मान रहे हैं ?

इस वेदान्त और न्यायादि दर्शनों में योग्यता विषयक संदेह का निवारण राष्ट्रभाषा पतञ्जलि श्रीनिगमानन्दजी परमहंस के द्वारा लिखी गई, सर्वदर्शन समन्वय की प्रशस्ति, के एक अंश से हो गया है। वह प्रशस्ति का अंश यह है कि "जब व्याकरण की दो चार स्खलतियां देखीं तब मैंने शंकर स्वामी से पूछा आपने व्याकरण कहाँ तक अध्ययन किया है ? उत्तर मिला कि मुझे प्रथमा और पंचमी का भेद दिखाई दे जाता है। किन्तु जिनसे मैं पंचदशी पढा हूँ उनकी दृष्टि में तो प्रथमा और पंचमी में अद्वैत भासता है भेद नहीं भासता''।

श्री पतञ्जलि जी लिखित प्रशस्ति के अंश से प्रारंभ में ऐसे ब्रह्मनिष्ट महापुरुषों से लेखक ने ग्रंथाध्ययन किया है जिनको प्रथमा तथा पंचमी में अद्वैत भासता है। पादपः पतति इस वाक्य में पादपः शब्द में प्रथमा है। यदि प्रथमा को प्रथमा जान लिया तो वाक्य का अर्थ समझा जायगा "पादप गिरता है"। यदि पंचमी जान लिया तो अर्थ समझा जायगा 'पादप से गिरता है" इन दोनों अर्थों में महान् अन्तर हैं।

ऐसी प्रणाली में किये हुए प्रारंभिक अध्ययन का संस्कार जीवन भर नहीं जाता है। अतः शास्त्र ने ब्रह्मविद्या के अध्ययन के लिये श्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ गुरु का विधान किया है, क्योंकि ब्रह्मनिष्ठ गुरु बोध तो उत्तम अधिकारी को कराने में समर्थ होते हैं, शास्त्र का यथार्थ बोध नहीं करा सकते हैं। शास्त्र का असंदिग्ध ज्ञान तो श्रोत्रिय गुरु ही कराने में समर्थ होते हैं।

ऐसी अद्वैत भान प्रणाली के अध्ययन से अध्येता को भले ही यह निश्चय हो जाय कि मैं शास्त्रज्ञ हूँ। किन्तु उनके अध्ययन की गंभीरता का ज्ञान भली प्रकार हो जाने से पूर्वोक्त संदेह का निवारण स्वाभाविक है। फिर भी लेखक ने सर्व दर्शनों के दर्शनार्थ बीस वर्ष का समय व्यतीत किया है। इसके लिए वें धन्यवाद के पात्र भी हैं।

श्री गणेशायनमः

प्रकाशकीय

अब तक प्रकाशन की तो कोई चर्चा ही नहीं थी तथा ग्रंथ भी कुछ ग्रंशो में ग्रपूर्ण था। तभी हरिद्वार में समागत सर्वतन्त्र स्वतन्त्र यतिवर अनन्त श्री विभूषित स्वामि करपात्रीजी महाराज को यह ग्रंथ दिया। एक दिन पढ़ने के पश्चात बड़ीं प्रसनन्ता से कहा कि अच्छा लिखा है, इसको लिखना ग्रावश्यक था। स्वामी जी के इन वचनों से भक्तजनक भक्त बामनौली रामचन्द्र सिंह अकाउन्टेन्ट डिग्री कॉलिज बड़ौत की यह भावना बनी कि इस ग्रंथ का प्रकाशन होना चाहिये अतः उनकी प्रेरणा, बाबू रतन प्रकाश जी बामनौली की सहानुभूति, और माता किशोरी देवी जी की आज्ञा से स्वर्गीय पूज्य पिता देवकीनन्दन जी की पुण्य स्मृति में इस ग्रंथ के प्रकाशन का शुभावसर मुझे प्राप्त हुआ इस लिए मैं उन सबका हृदय से कृतज्ञ हूँ। इस ग्रंथ के लिखने में श्री स्वामि स्वरूपानन्द जी योगीराज के दिये गये सुझावों के भी हम कृतज्ञ हैं।

भगवत सिंह

प्रबन्धक, इन्टर कॉलिज बामनौली (मेरठ)

श्री गणेशायनमः

पूज्यपाद दर्शनों के मूर्धन्य विद्वान् अनन्त श्री विभूषित श्रीस्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज का

प्रशंसा-पत्र

आपके भेजे हुए पत्र एवं पुस्तक दोनों ही मिले, आपके आदेशानुसार मैंने प्राक्कथन, समन्वय विचार, प्रमाण नहीं प्रमाणाभास हैं, और प्रयोजन विचार अवलोकन किया। आपका वैदुष्य एवं चिन्तन शैली की प्रशंसा से हृदय परिपूर्ण हो गया।

वस्तुतः समन्वय शब्द का प्रयोग सम्यक् अन्वयन अर्थात एक लक्ष्य की सिद्धि के लिये अन्वयन याने क्रमशः अनुगति संगति ही होता है। जिन मतों का समन्वय करना हो उनमें समानता क्या है, विरोध कहाँ कहाँ है, अपूर्वता क्या क्या है, इसका ठीक ठीक ज्ञान होने पर ही उनका परमतात्पर्य में समन्वय किया जा सकता है। यदि तत्तन्मत का विशेष ज्ञान नहीं हो तो समन्वय किया नहीं जा सकता। "त्रयी सांख्यं योगः" महिम्नःस्तोत्र के इस श्लोक की हरिहरात्मक व्याख्यामें श्रीमधुसूधन सरस्वतीजी ने सभी मतों का कुछ समन्वय किया है। ब्रह्मात्मैक्य बोध में सभीमत अपनी अपनी कक्षा में सहायक होते हैं। अद्वैतमत में सबका उपयोग है। परन्तु यह कहना कि जैसे ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति से उपलक्षित आत्मा ही मोक्ष-स्वरुप है ऐसा अनुभव होता है, वैसा ही अन्य दूसरे प्रस्थानों से भी हो जाता है, असंगत है। किसी मत का उपयोग प्रपंच के मिथ्यात्व में है। किसी मत में तत् पदार्थ का विवेचन मुख्य है, तो किसी में त्वंपदार्थ का, किसी में उपाधिविवेचन है तो किसी में अन्तःकरणगत अशुद्धियों का निराकरण। इस प्रकार भिन्न भिन्न प्रस्थान हमें ब्रह्मात्मैक्य बोधतक पहुंचाने में सहायक होते हैं। श्रीमधुसूदन सरस्वती ने प्रस्थानों के भेद और समन्वय का उत्तम निरूपण किया है। समन्वय की वही प्रक्रिया ठीक लगती है। परमाणुवाद, स्वतन्त्र प्रकृतिवाद अथवा कर्मवाद, अज्ञान निवृत्ति से होने वाली मोक्षके साक्षात साधन कैसे हो सकते हैं?

व्यासतात्पर्य निर्णय ग्रथ में अनेक युक्तियों से वेदान्ततात्पर्य का निश्चय किया गया है। उनमें एक यह भी युक्ति मानी गयी है कि भिन्न भिन्न दर्शन जब अपने मतकी प्रतिष्ठा के लिये अन्यमतों का खण्डन करते हैं तब वेदान्त दर्शन का क्या सिद्धान्तमान कर उसका खण्डन करते हैं, कहना नहीं होगा कि सभी दर्शनों ने वेदान्त दर्शन का सिद्धान्त अद्वैत मानकर ही उसका खण्डन किया है। सभी दर्शनो का यह मान्य सिद्धान्त है कि वेदान्त दर्शन में अद्वैत का ही निरूपण है स्वयं वेदान्त दर्शन में ही योगमत, सांख्य-

मत, पाञ्चरात्रमत आदिका खण्डन मिलता है। यदि इन दर्शनों के रचयिता महर्षि परस्पर यह समझपाते कि जो वह कह रहे हैं। वही मैं, और जो मैं कह रहा हूँ वही वे, हम लोग एक मत हैं, तो एक दूसरे का खण्डन क्यों करते ? योग: प्रत्युक्त:' 'अशब्दम्' नानुमानम्' 'उत्पत्त्यसंभवात्' आदिसूत्र दूसरे मतो का खण्डन करने के लिये ही तो हैं। अतः इनका समन्वय या समुच्चय दार्शनिकों का अभीष्ट नहीं है। इनका क्रम समन्वय ही होना चाहिये। इसीसे परमाणुवाद, प्रकृतिवाद, धर्मवाद और ब्रह्मात्मैक्यवाद की क्रमशः सगति लगती है। अपने अपने विषय के प्रतिपादन में ही तत् तत् दर्शनों की विशेषता है। यदि सब के सब सदृश प्रतिपादन ही करते होते तो उनकी भिन्नता व्यर्थ हो जाती है। जैसे अन्नमय, प्राणमय आदि कोशों में तारतम्य है, पहिले की अपेक्षा दूसरे अन्तरङ्ग हैं, इसी प्रकार दर्शनों में भी अन्तरङ्ग बहिरङ्ग भेद है।

केवल जगत् के उपादान विचार को ही लेलें। चारभूत परमाणु-पुद् गल बहिरग उपादान हैं। परन्तु बुद्धि और द्रष्टा के अन्तराल में स्थित प्रकृति अथवा आत्मनिष्ठ कर्म उनकी अपेक्षा अन्तरङ्ग हैं शून्यवादी बौद्ध निरुपादानवादी है तो विज्ञानवादी बौद्ध आन्तर उपादानवादी, जैन आन्तर और बाह्य में सप्तभङ्गी न्याय लगाते हैं। अभिन्ननिमित्तोपादन कारणवादी अन्तरङ्गकारणवादी हैं। अविद्या भी अन्तरङ्गकारण है। क्योंकि अविद्या में वस्तुतः अविद्योपहित चेतन ब्रह्म ही उपादान है। ऐसी स्थिति में अद्वितीय ब्रह्म एवं आत्मा की एकता के बोध में सबका समसमन्वय कैसे हो सकता है ? अपने अपने स्थान पर सब ठीक होने पर भी मूला अविद्या की निवृत्ति केवल ब्रह्मात्मैक्य बोध से ही होती है। जो वस्तु अज्ञान से रहती है वह अज्ञान दशा में भी वस्तुतः नहीं रहती। जो ज्ञानसे मिलती हैं वह नित्य प्राप्त ही रहती है ज्ञान सिद्ध वस्तु कर्म उपासना या योग से प्राप्त नहीं होती। उसके लिये अज्ञान की निवृत्ति ही अपेक्षित है। ऐसी स्थिति में कोई भी प्रस्थान अविद्या निवृत्ति में साक्षात् साधन नहीं हो सकता। कहीं न कहीं उन्हें अपने स्वरूप के अनुसार तत्वज्ञान में सहायक ही रहना पड़ेगा।

हम इस सम्बन्ध में आपसे पूर्णतः सहमत हैं कि सभी प्रस्थान वेदान्ततात्पर्य निश्चय में उपकारक होने पर भी साक्षात् साधन नहीं हैं। उनका सम-समन्वय या समुच्चय श्रुति युक्ति और अनुभव विरुद्ध है। हम आपके ही समान उनका क्रम समन्वय स्वीकार करते हैं, जिसका समन्वयाधिकरण में प्रतिपादन है।

आपके प्रौढ़ विचार और निरूपण शैली की मैं भूरी भूरी प्रशंसा करता हूँ।

स्वामी अखण्डानंद सरस्वती
विपुल २८/१६ मालाबार हिल बम्बई

विषय-सूची

श्री गुरवे नमः

श्री गणेशाय नमः श्री सरस्वत्यै नमः

सर्वदर्शन समन्वय–एक चिंतन

समन्वय विचार

यदङ्ध्र्यभिध्यानसमाधिधौतया,
धियानुपश्यन्तिहितत्वमात्मनः ।
वदन्ति चैतत्कवयोयथारुचं,
समे मुकुन्दो भगवान्प्रसीदताम् ।।

सर्व दर्शन समन्वय ग्रंथ में लेखक ने सर्व दर्शनों का समन्वय-प्रदर्शन किया है। इस ग्रंथ का संग्रह, प्रकाशन से पूर्व, कापी के रूप में किया था। उस समय इस का नाम "सम समन्वय' था। यथा नाम तथा गुण न्याय के अनुसार इसमें सर्व दर्शनों का समान रूप से एक ही तत्व में साक्षात् समन्वय इस प्रकार दिखाया है जिस प्रकार नर्मदा गंगादिक नदियों का समुद्र में साक्षात् समन्वय है। अतः लेखक की मान्यता है कि सर्व दर्शनों से समान रूप से मुक्ति प्राप्त होती है। साथ ही अपनी मान्यता की दृढ़ता में यह कथन भी है कि "सभी को स्वस्वपक्ष साधक अनुभूति, युक्ति, दृष्टान्त तथा शास्त्र प्रमाण भी उपलब्ध हो जाते हैं। इत्यादि

लेखक ने उक्त पंक्तियों में अपना यह भाव प्रदर्शित किया है कि कोई भी दर्शन युक्ति अथवा शास्त्र प्रमाण के आधार पर सर्वश्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता है। अतएव 'सर्व दर्शन, एक ही तत्व को एक ही रूप में भिन्न भिन्न प्रक्रियाओं से कहते हैं' इस अपनी मान्यता में उन्होंने अनेक प्रमाण भी भिन्न-भिन्न स्थलों में दिये हैं।

यद्यपि सर्व दर्शनों की समानता प्रदर्शित करते समय प्रायः साधक बाधक युक्तियों का ही प्रदर्शन किया है। श्रुत्यादि शास्त्र प्रमाण प्रायः नहीं दिये हैं। तथापि अपने समन्वय की पुष्टि में श्रुति, पुराण तथा योग वासिष्ठादि ग्रन्थों के प्रमाण दिये हैं। जैसे :

केचित्कर्मवदन्त्येनं स्वभावमपरेनृप ।
एके कालंपरेदैवं पुंसः काममुतापरे ।। भा० ४-११-२२

इत्यादिक बहुत से माननीय ग्रंथों के प्रमाण दिये हैं। दिये हुए प्रमाण हैं या प्रमाणाभास यह विवेचन अग्रिम प्रकरण में करेंगे। यहाँ इतना

कहना आवश्यक है कि उनके दिये हुए सर्व वाक्य अप्रासंगिक होने से प्रमाणाभास हैं।

लेखक ने अपने ग्रंथ की भूमिका में उन ग्रंथों के निम्नोक्त नाम लिखे हैं जिन ग्रंथों का स्वाध्याय उन्होंने बीस वर्ष तक किया :—इष्ट सिद्धि, ब्रह्मसिद्धि, अद्वैतसिद्धि, खण्डन-खण्ड खाद्य, चित्सुखी, प्रस्थानत्रयी भामती पंचपादिका विवरण सिद्धान्त लेशादि वेदान्त ग्रन्थ, वैशेषिक सूत्रभाष्य, न्याय वार्तिक, तात्पर्य टीका, परिशुद्धि, आत्मतत्व विवेक, न्याय कुसुमांजलि, न्यायमंजरी आदिक न्याय वैशेषिक के प्रौढ़ग्रंथ, सांख्य कारिका, तत्व कौमुदी, तत्व वैशारदी, योग सूत्र, व्यास भाष्यादि सांख्य योग के प्रौढ़ ग्रंथ, शास्त्र दीपिका, जैमिनी सूत्र भाष्य वार्तिक, न्यायरत्नाकरादि मीमांसा ग्रंथ, बौद्ध-दर्शन, तत्व संग्रह-पञ्जिकादि बौद्ध ग्रंथ, जैन दर्शन, प्रमेय कमल-मार्तण्ड, न्याय कुमुद चन्द्रादि जैन ग्रंथ तथा प्रस्थान त्रयी पर प्राप्त वैष्णवाचार्यों के सभीभाष्य, तत्वमुक्ताकलाप, अध्यासगिरिवज्रादि वैष्णव वेदान्त ग्रंथ। लेखक ने उपरोक्त ग्रथों का नाम, अपनी दर्शन शास्त्र की योग्यता प्रदर्शित करने के लिये लिखा है। इस बीस वर्ष के स्वल्पावसर में पूर्वोक्त ग्रन्थों का अर्थ समझने वाले व्यक्ति को ऐसा लिखना उचित भी है, क्योंकि उक्त ग्रंथों को समझने वाला व्यक्ति विद्या के विषय में सतयुगादि में न सही इस कलियुग में तो सर्वज्ञ जैसा ही समझा जाता है। फिर भी अप्रासंगिक प्रमाणों का उल्लेख कैसे कर दिया है? यह भी एक आश्चर्यमय एवं विचारणीय विषय है।

उनकी योग्यता के प्रदर्शन अनुसार तथा एक अच्छे संत होने के कारण न तो यह ही कहा जा सकता है कि उन्होंने यह प्रमाण कदम्ब बिना समझे लिख दिया है और न यह ही कहते बनता कि अपने अभूतपूर्व लिखित सम समन्वय के मोह से दूसरों को वंचित करने के लिए ही लिख दिया है। किन्तु लिख दिया है। अतः लेखक का यह अनिर्वचनीय कार्य हुआ है। यह तो सब कुछ आगे के प्रकरण को पढ़कर ही पाठकों की समझ में आयेगा। अतः इस चर्चा को यहाँ ही विराम देकर यह लिखते हैं कि लेखक की मान्यता है कि सर्व दर्शन श्रुति युक्ति से समर्थित हैं तथा साक्षात् परम तत्व को प्राप्त कराकर मुक्ति प्रदान करते हैं।

यहाँ प्रथम इस विषय पर विचार करते हैं कि, क्या दर्शनों के समन्वय के विषय में किसी आप्त वक्ता ने विचार किया है या नहीं? क्या सभी दर्शन श्रुति तात्पर्य विषय सिद्धान्त को कहते हैं या नहीं? इन

दोनों जिज्ञासाओं को लेकर पाठकों के सम्मुख व्यास जी से ग्रथित पुष्प दन्ताचार्योक्त महिम्नस्तोत्र का एक श्लोक उपस्थित करते हैं :—

त्रयीसाँख्यंयोगः पशुपतिमतंवैष्णवमिति,
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमितिच ।
रुचीनांवैचित्यात् ऋजुकुटिलनाना—पथजुषां,
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ।।

(इस श्लोक में त्रयी शब्द सांग वेद का तथा सांख्य शब्द न्याय वैशेषिक दर्शनों का उपलक्षण है)

अर्थः—वेद, सांख्य, योग, न्याय वंशेषिक, पाशुपत तथा वैष्णव इन भिन्न-भिन्न प्रस्थानों में यह ही श्रेष्ठ है, यह ही पथ्य अर्थात् कल्याणकारी है। ऐसी रुचियों की विचित्रता होने से सीधे तथा परम्परा के मार्ग को सेवन करने वाले मनुष्यों को आप परमेश्वर इस प्रकार प्राप्य होते हैं जिस प्रकार सीधे (साक्षात्) तथा परम्परा के मार्ग को सेवन करने वाले जलों को समुद्र प्राप्य होता है। इस व्यास वाक्य से यह बात सहज में ही समझ में आ जाती है कि समस्त आस्तिक दर्शन समान रूप से परमात्मा की प्राप्ति के साधन नहीं हैं। किन्तु प्रथम उद्दिष्ट होने से वैदिक (वेदान्त) दर्शन साक्षात् साधन हैं परमात्मा की प्राप्ति में। तथा अन्य दर्शन परमात्मा की प्राप्ति के परम्परा साधन हैं। जब आस्तिक दर्शन भी साक्षात् परमात्मा या मोक्ष प्रापक नहीं तो पुनः नास्तिक दर्शनों की तो कथा ही क्या है कि वे साक्षात् मुक्ति या परमात्मा के प्रापक हैं। इस श्लोक में कहे त्रयी शब्द से वैदिक दर्शन विवक्षित है। उससे भिन्न ही साँख्य, योग, न्याय वैशेषिक, पाशुपत तथा वैष्णव दर्शन हैं।

यदि सर्व दर्शन समान रूप से श्रुति के मुख्य तात्पर्य के विषय भूत तत्व को ही कहते तो उनसे वैदिक दर्शन का प्रथक् उल्लेख न किया जाता, किन्तु प्रथक् उल्लेख किया है। अतः यह सिद्ध होता है कि इन सब से प्रथक् ही वैदिक अर्थात् मीमांसा दर्शन है। यह बात भिन्न है कि अन्य दर्शन अवान्तर तात्पर्य वाली श्रुतियों को प्रमाण देकर अपने अपने मत को सिद्ध करें।

इन उपरोक्त पंक्तियों से यह बात भली प्रकार समझ में आ जाती है कि सभी मत समान रूप से श्रुतियों से प्रमाणित नहीं है किन्तु मीमांसा दर्शन ही श्रुतियों से प्रमाणित है। जिसे पूर्व मीमांसा तथा उत्तर मीमांसा नाम से कहा जाता है। वही त्रयी दर्शन है।

सबसे बड़ी भूल, लेखक से, यह हुई कि एक भी छोटी से छोटी उपनिषद् का निर्णायक लिंगो द्वारा सभी दर्शनों के प्रतिपाद्य विषय में तात्पर्य बिना दिखाए ही उन्होंने यह लिख दिया कि "श्रुति प्रामाण्य वादियों के लिये तत् तत् पक्षों में श्रुति भी उपलब्ध हो ही जाती है', जब आस्तिक दर्शन भी मीमांसा (श्रौत) दर्शन से भिन्न हैं तब आस्तिक दर्शनों से भिन्न बौद्ध जैनादिक दर्शन श्रौत दर्शन से भिन्न हैं इसका तो कहना ही क्या है ? अत: श्रुति वल मीमांसा दर्शन को ही प्राप्त है। अन्य दर्शनों को नहीं।

लेखक का कथन है कि "सभी पक्ष अन्तिम स्थलों में परिशेष न्याय से स्वस्वपक्ष की पुष्टि कर लेते हैं।" इस कथन से भी लेखक को यही अभिमत है कि परिशेष न्यायरूप युक्ति भी सभी मतों में समान हैं। उनकी यह बात स्वीकार कर के भी यह तो कहा ही जा सकता है कि जो परिशेष न्याय श्रुति के अनुकूल है उस परिशेष न्याय को श्रुति का समर्थन प्राप्त होने से वह ही परिशेष न्याय प्रबल है। तब प्रबल परिशेष न्याय से सिद्ध मत ही मान्य होगा, अन्य मत मान्य नहीं होंगें।

लेखक ने आत्म विचार प्रकरण में लिखा है कि "जगत् के मूल कारण परमात्मा, आत्मा, धर्म एवं अधर्म आदि बुद्धि अगम्य पदार्थों की तो बात ही क्या बुद्धि गम्य शारीरिक, सामाजिक एवं आर्थिक विषयों में भी शास्त्रों का प्रामाण्य मुझे सर्वोपरिमान्य है।" जब शास्त्रों का प्रामाण्य सर्वोपरिमान्य है तो शास्त्र शिरोमणि वेद का भी शिरोभाग उपनिषत्-प्रतिपाद्यतत्व के ज्ञान को मुक्ति की प्राप्ति में अन्य दर्शनों के समान स्थान देना क्या लेखक को बुद्धिमत्ता कही जा सकती है।

यदि कहा जाय कि उन उन दर्शनों ने अपने अपने प्रतिपाद्य विषय को युक्ति से ही सिद्ध किया है। अत एव हमने भी यौक्तिक दृष्टि से ही वेदान्त को भी उनके समान स्थान दे दिया है। ऐसा है तो "श्रुति प्रामाण्य वादियों के लिए तत् तत् पक्षों में श्रुति भी उपलब्ध हो ही जाती है" यह कथन कैसे उचित हो सकता है ? इस कहने का यदि यह तात्पर्य है कि अन्य दर्शन मुख्य रूप से तो यौक्तिक हैं और गौण रूप से उन में श्रुतियां भी दी हैं तब भी वेदान्त उनकी कक्षा में निक्षिप्त नहीं किया जा सकता है। क्योंकि वेदान्त तो मुख्य रूप से श्रौत है। श्रुति के अनुकूल रूप से युक्तियां देता है। अत: सर्व दर्शन समान रूप से एक तत्व में समन्वित नहीं हैं यही सिद्ध होता है।

प्रश्न—यदि सर्व दर्शन एक तत्व में समान रूप से समन्वित नहीं होते तो और किस प्रकार से होते हैं ? क्या आप जैसे विचारकों ने ही दर्शनों के मध्य खाई नहीं खोद रखी है ?

उत्तर—प्रारम्भ में उक्त उसी श्लोक ने बता दिया है कि ऋजु अर्थात् साक्षात् मार्ग में होकर जाने वाले जलों तथा कुटिल अर्थात् परम्परा मार्ग से होकर जाने वाले जलों का प्राप्य जैसे समुद्र हैं, वैसे ही ऋजु अर्थात् साक्षात् मार्ग अर्थात् वेदान्त (उपनिषद्) दर्शन से जाने वाले तथा कुटिल अर्थात् परम्परा मार्ग कहिये अन्य दर्शन सेवन करने वाले मनुष्यों का प्राप्य एक पर तत्व रूप तू शिव है। गंगा तो जलों को साक्षात् समुद्र को प्राप्त कराती हैं, यमुना आदिक परम्परा से प्राप्त करा देती हैं। तथैव सर्वोपरि प्रमाणभूत उपनिषद्दर्शन से पर तत्व साक्षात् प्राप्य है तो अन्य दर्शनों से परम्परा से प्राप्य हैं।

जैसे गंगा यमुना आदिक के जलों के बीच कोई विद्वान् खाई नहीं कह सकता क्योंकि सभी का जल समुद्र की ओर निराबाध गति से चलता रहता है। गंगा, यमुना के जल को समुद्र कीं ओर जाने में कोई बाधा नहीं देती अपितु उस को समुद्र तक अपने द्वारा पहुंचा देती है। उसी प्रकार वेदान्त दर्शन किसी अन्य दर्शन के अधिकारी को परमात्मा की प्राप्ति में कोई बाधा न देकर अपने द्वारा पर तत्व तक पहुंचा देता है। अतः दर्शनों में न खाई है, न किसी ने की है ओर न उसे पाटने की ही आवश्यकता है। किन्तु दर्शनों में खाई का दर्शन भ्रान्ति ही है तथा उसे पाटने का प्रयास भी रज्जु सर्प को मारने के लिये दण्ड प्रहारवत् युक्ति युक्त नहीं है।

प्रश्न—यदि वेदान्त ही परम तत्व या मोक्ष को प्राप्ति का साक्षात् साधन हैं तो अन्य दर्शनों का उसमें कैसा समन्वय है ?

उत्तर – पूर्व मीमांसा का शुभ निष्काम कर्मों से अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा वेदान्त जन्य ज्ञान में समन्वय है। क्योंकि शास्त्र में कहा है कि "ज्ञानमुत्पधते पुंसांक्षयात्पापस्यकर्मणः" मनुष्यों को ज्ञान पापक्षय होने से ही होता है। पाप का क्षय "धर्मेण पापमपनुदति" धर्म के अनुष्ठान से होता है। धर्म का ज्ञान पूर्व मीमांसा दर्शन से होता है। वैष्णव तथा पाशुपत दर्शन, विष्णु तथा शिव भक्त बनाकर वेदान्त तत्व के प्रकट होने के योग्य अन्तःकरण बना देते हैं। जैसा कि श्रुति ने कहा है—यस्य देवे परा-भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

न्याय वैशेषिक दर्शनों का युक्ति प्रधान होने से युक्ति चिंतन से

पुरुष की तीव्र बुद्धि से प्राप्त मनन शक्ति से मनन द्वारा अद्वैत दर्शन में समन्वय है। सांख्य शास्त्र का प्रकृति पुरुष के विवेक से आत्मा के असंग ज्ञान द्वारा अद्वैत वेदान्त दर्शन में समन्वय है। योग दर्शन का अद्वैत ज्ञान के साधन निदिध्यासन के सम्पादन द्वारा अद्वैत दर्शन में समन्वय है।

अद्वैत वेदान्त दर्शन अद्वय ज्ञान से मोक्ष प्राप्ति प्रतिपादन करता है। न्याय दर्शन ने अनन्त पदार्थ भेदों का सोलह पदार्थ विशेष में अन्तर्भाव करके भेद में संकोच प्रदर्शित किया। वैशेषिक ने सात पदार्थ विशेष में अन्तर्भाव कर भेद का और भी संकोच कर दिया। योग ने पुरुष प्रकृति तथा ईश्वर इन पदार्थत्रय विशेष में अंतर्भाव कर पूर्व से भी अधिक संकोच किया। तथैव पुरुष प्रकृति इन दो पदार्थ भेद में ही अनन्त पदार्थ भेद का अंतर्भाव कर भेद का अधिकतम संकोच किया। इस प्रकार भेद के संकोच में अधिकारी की बुद्धि की स्थापना द्वारा भी सर्व दर्शनों का अद्वैत दर्शन में समन्वय है।

पूर्वोक्त प्रकार से जब आस्तिक दर्शनों का परम्परा से अद्वैत दर्शन में समन्वय है तब उनसे भिन्न बौद्धादिक दर्शनों के समन्वय की चर्चा का तो अवसर ही कहाँ? अतः, अनावश्यक होने से, उन पर कोई चर्चा यहां नही की है।

प्रश्न—जब व्यास जी को पूर्वोक्त श्लोक से सिद्ध समन्वय अभिमत है तो फिर दर्शनों में परस्पर का खण्डन क्यों?

उत्तर—अन्तःकरण में स्थित अपने पूर्व संस्कारों के अनुसार मनुष्य की भिन्न-भिन्न रूचियाँ होती हैं। किसी की रूचि कर्म में होती है तो किसी की न्याय में और किसी की योगादि में। रूचि से गृहीत मार्ग का अनुष्ठान तभी तत्परता से होता है जबकि उस मार्ग की श्रेष्ठता दृढ़ हो जाय। उस मार्ग की श्रेष्ठता दृढ़कर रूचि को परिपक्व बनाने के लिये ही अन्य दर्शन मार्ग का निराकरण किया है। इसी भाव को भट्ट जी ने अपने एक वाक्य से कहा है कि "नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते अपितु विधेयं स्तोतुम्"। निंदा अन्य दर्शन के उपाय को निंदित करने को प्रवृत्त नही होती है किन्तु जो मार्ग विधान किया गया है उसकी स्तुति बताने के लिए ही प्रवृत्त होती है।

उपरोक्त श्लोक पर विचार करने से दो तत्व निष्पन्न होते हैं:—

(१) सर्वदर्शन श्रौत नही हैं, क्योंकि उनको त्रयी (श्रौत) दर्शन से प्रथक् कहा है।

(२) सभी दर्शनों का एक तत्व में साक्षात् समन्वय नहीं है, अपितु वेदान्त दर्शन का साक्षात् तथा अन्य दर्शनों का परम्परा से समन्वय है।

लेखक के समन्वय से किस प्रकार का तत्व ज्ञान होगा, इस का विचार करते हैं।

(१) लेखक ने आत्म सत्ता समन्वय में आत्मा को स्थिर (नित्य) तथा देहादिकों से भिन्न कहा है।

(२) आत्म चित्ता समन्वय में सिद्ध किया है कि वेदान्ति आदिकों ने जड़ता से व्यावृत्ति के लिए आत्मा को ज्ञान रूप मानकर चेतन कहा है। इनसे अन्य नैयायिकादिकों ने जड़ पदार्थों से व्यावृत्ति के लिए ज्ञान प्रागभाव का अधिकरण ज्ञानात्यन्ताभाव का अनधिकरण या ज्ञान का अधिकरण होने से आत्मा को जड़ से भिन्न चेतन माना है। अतः किसी भी प्रकार हो आत्मा चेतन है। यह चेतनता का समन्वय किया है।

(३) आत्म आनन्दता समन्वय में यह सिद्ध किया है कि आत्मा की दुःख रूपता की व्यावृत्ति के लिए ही आत्मा को आनन्द रूप कहा है तथापि आत्मा की दुःख रूपता की व्यावृत्ति आत्मा को नित्य सुखरूप या नित्य सुख गुणवान् या अनित्य सुख रूप गुणवान् या दुःखाभाव रूप मानने वाले सभी पक्षों में समान रूप से हो जाती है। अर्थात् आत्मा नित्य सुख स्वरूप या नित्य सुखरूप गुणवान् या अनित्य सुख रूप गुणवान् या दुखाभाव रूप है। अतः दुःख रूप नहीं है।

(४) कर्तृत्वादि समन्वय प्रकरण में लेखक ने यह सिद्ध किया है कि शंकराचार्य जी को तो कर्तृत्व भोक्तृत्व न आत्मा में स्वीकृत है न बुद्धि में। किन्तु मैं कर्ता हूँ मैं भोक्ता हूँ, यह प्रत्यय होता है। अतः आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व भोक्तृत्व की योग्यता है अर्थात् आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व भोक्तृत्व मान लेने पर भी मुक्ति अवस्था में साधनान्तर न होने के कारण कर्तृत्व भोक्तृत्व उसमें नहीं रहेंगे। न रहने पर चाहे आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्वादिक माने जाएं या आरोपित, कोई अन्तर नहीं हैं। सारांश यह प्रतीत होता है कि अनुभव सिद्ध आत्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्व स्वाभाविक मानने में कोई अनुपपत्ति नही है।

(५) आत्म परिमाण समन्वय में, सर्वदर्शनों का पर्यवसान अन्ततोगत्वा व्यापकता में ही होता है, ऐसा सिद्ध किया है। उपरोक्त समन्वयों के निर्णयानुसार मनुष्य अपने स्वरूप का निश्चय इस प्रकार करेगा।

मैं देहादिकों से भिन्न नित्य ज्ञानस्वरूप या ज्ञान प्रागभाववान् या ज्ञानात्यन्ताभावानधिकरण या ज्ञान का अधिकरण रूप चेतन, नित्य सुख रूप या नित्य सुख गुणवान् या अनित्य सुखरूप गुणवान् या दुःखाभाव रूप, कर्ता भोक्ताव्यापक स्वरूप हूँ।

परन्तु वस्तु में विकल्प न होने के कारण ऐसा निश्चय कराने वाले ग्रन्थ को कोई बुद्धिमान् मनुष्य तो समन्वयप्रदर्शक कह नहीं सकता। प्रत्युत वस्तु में भी विकल्प का निर्णायक होने के कारण भ्रामक तथा त्याज्य ही कहेगा।

आत्म परिमाण समन्वय में यह भी लिखा है कि वेदान्ति कथित आत्मतत्व का बोध तो सभी दर्शनों से ही हो सकता है। तब शुद्ध आत्म तत्व का बोध हो जाने पर ब्रह्म तत्व का बोध होना शेष रह गया, यह कैसे कहा जा सकता है?

लेखक के उपरोक्त विचार कितने निराशाजनक हैं!

उनके आत्मा-विषयक समन्वय विचार से जब आत्मा कर्तृत्व भोक्तृत्व की योग्यता वाला है तथा नित्य ज्ञानगुणादिकों का भी कोई निश्चय नहीं हो पाता है। अर्थात् उनके कथनानुसार आत्मा नित्य गुण के अतिरिक्त अनित्य गुणवान् भी है। तो क्या, आत्मा से अभिन्न होने के कारण, ब्रह्म भी पाप-पुण्य का कर्ता-भोक्ता और अनित्य सुख-दुःख वाला है? ऐसा कोई दार्शनिक स्वीकार करेगा। यह बात समझ में आने योग्य नहीं है।

आधुनिक युग में ऐसी विचारधारा तथाकथित बुद्धिमान् मनुष्यों में पाई जाती है कि यदि शास्त्रानुसार कोई बात कही जाती है तो उसे रूढ़िवाद कह कर त्याग दिया जाता है। अथवा आग्रह कहकर उसकी उपेक्षा कर दी जाती है। नवीन प्रकार अप्रामाणिक भी हो उसे बहुत सुन्दर तथा प्रगतिवाद का चिन्ह माना जाता है। अतः हमारे विचारों को वेदान्त में आग्रह होने का चिह्न बताया जा सकता है। तथापि सभी लौकिक अलौकिक विषयों में शास्त्र को प्रमाण मानने वाले विद्वानों से हमारा निवेदन है कि वे भली प्रकार परीक्षा करें कि हमने जो कुछ लिखा है वह उपरोक्त व्यास तथा पुष्पदन्ताचार्य के संग्रहीत तथा प्रणीत श्लोक के अनुसार है या आग्रह मात्र है।

प्रमाण नहीं प्रमाणाभास हैं

केचित्कर्म वदन्त्येनं स्वभावमपरे नृप ।
एके कालं परे दैवं पुंसः काममुतापरे ।।

भा० ४-११-२२

हे राजन् ! इस परमात्मा को ही मीमांसक लोग कर्म, चार्वाक स्वभाव, वैशेषिक मतावलम्बी काल, ज्योतिषीदैव, कामशास्त्री काम कहते हैं ।

लेखक ने अपने सर्वदर्शन सम समन्वय में भागवत का उपरोक्त श्लोक देकर उपरोक्त अर्थ किया है । यह श्लोक सम समन्वय में प्रमाण है या नही, इसको भली प्रकार समझने के लिए प्रकरण सहित इस पर विचार करते हैं । प्रामाणिक तथा अत्यन्त सुप्रसिद्ध विद्वानों को मान्य श्रीधरी टीका में इस श्लोक पर यह आक्षेप उठाया है—**ननुकर्मादीनां जड़त्वादिना स्वरूपतोपिभिन्नत्वात् कथमंकत्वम्** । अर्थः—कर्मादि जितने पदार्थ उक्त श्लोक में कहे हैं, उनको जड़ तथा परिछिन्न होने से स्वरूप से भी परमात्मा से भिन्न होने से एक मत कैसे ? तत्राह । तिस प्रकार की शंका होने पर समाधान के रूप में आगे का श्लोक कहा जाता है—

अव्यक्तस्याप्रमेयस्य नानाशक्त्युदयस्य च ।
न वैचिकीर्षितं तात को वेदाथ स्वसंभवम् ।।

भा० ४-११-२३

अव्यक्त, अप्रमेय तथा महदादिक अनेक शक्तियों के जिस उदयभूत स्थान परमात्मा को करने को जो इष्ट है उसे कौन जानता हैं अर्थात् कोई नहीं जानता है ।

यह अर्थ श्रीधरी टीका के अनुसार किया है । उपरोक्तार्थक संस्कृत टीका लिखकर श्रीधर स्वामी स्वयंभावार्थ लिखते हैं कि—अतस्तस्य तत्वज्ञानाभावात् विशेषांशे विवाद इत्यर्थः । अर्थ—इसलिये भगवान् का तत्वज्ञान न होने से ही विशेषांश अर्थात् कामादि अंश में विवाद है । भावार्थ यह है कि भगवान् के तत्वज्ञान न होने पर ही कामादिकों को

जगत्कारण मानते हैं। भगवत्तत्व ज्ञान होने पर तो कारणों का भी कारण भगवान् है ऐसा निश्चय हो जाने पर परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई जगत्कारण है यह संभावना ही नहीं होती, तब विवाद कहाँ?

प्रकरणानुसार उक्त प्रकार से दोनों श्लोकों पर विचार करने से दो तथ्य निष्पन्न होते हैं।

(१) भगवत्तत्व का अज्ञान ही कामादि को जगत्कारण मानने का कारण है।

(२) भगवत्तत्वज्ञान होने पर विवाद समाप्त हो जाता है।

प्रथम तथ्य के अनुसार परमात्मा रूप कर्मादि को जगत्कारण मानना अज्ञान से मोहित हुए पुरुष का ही हो सकता है, तत्वज्ञ का नहीं। उपनिषद् ने भी ये ही विचार व्यक्त किये हैं—

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथाऽन्ये परिमुह्यमानाः।
देवस्यैष महिमानुलोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम ॥ श्वेताश्वतर ६-१

अज्ञान से मोहित होने वाले कोई विद्वान् संसार का कारण स्वभाव को कहते हैं, कोई काल को। यह परमेश्वर की ही महिमा है, जिस से कि लोक में स्थित यह ब्रह्म चक्र चलाया जा रहा है। इस उपनिषद् वाक्य ने कालादिकों को जगत्कारण कहने वाले को स्पष्ट रूप से अज्ञान मोहित कहा है। अतः जगत्कारण परमात्मा को कर्मकाल स्वभावादि जानना या कहना अज्ञान की देन है, न कि समन्वय की।

द्वितीय तथ्य से यह सिद्ध होता है कि भगवत् तत्वज्ञान होने पर विवाद समाप्त हो जाता है न कि अप्रामाणिक युक्तिहीन समन्वय से।

उक्त विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि उक्त श्लोक समन्वय को नहीं कह रहें अपितु अज्ञान से कालादिकों को जगत्कारण मानकर विवाद करने वालों का वह विवाद भगवत्तत्व ज्ञान होने पर समाप्त हो जाता है, ऐसा कह रहे हैं। अतः सर्वदर्शन के सम समन्वय में प्रमाण न होने पर भी प्रमाण देना या मानना भारी भूल है।

एक अन्य श्लोक हनुमन्नाटक का दिया है। वह निम्नलिखित है—

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो,
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाण पटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः,
सोयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ॥

जिस तत्व की, शैव लोग शिव इस नाम से उपासना करते हैं, उसी तत्त्व को वेदान्ति ब्रह्म, बौद्ध बुद्ध, प्रमाण कुशल नैयायिक जगत्कर्ता कहते हैं। उसी तत्व को जैनी अर्हत् तथा मीमांसक कर्मनाम से कहते हैं। वें त्रिलोकी नाथ श्री हरि मेरे वाञ्च्छित (अभीष्ट) फल को प्रदान करें।

लेखक ने इस श्लोक का पूर्वोक्त अर्थ लिखकर इस श्लोक को अपने सम समन्वय में प्रमाण दिया है। किन्तु यह श्लोक इस प्रकार के समन्वय में प्रमाण नहीं जिस समन्वय में यह सिद्ध किया गया हो या माना गया हो कि सर्वदर्शन एक ही वस्तु को कहते हैं। क्योंकि ऐसा मानने पर कर्मो तथा त्रैलोक्यनाथ हरि (विष्णु भगवान्) का एक रूप मानना पड़ेगा। सो कथमपि संभव नहीं है। मनुष्य कर्म को बनाने वाला है, भगवान् को नहीं। कर्म जड़ है, भगवान् जड़ नहीं। कर्म अनित्य हैं, भगवान् अनित्य नहीं है। ऐसी दशा में मीमांसक जिसे कर्म नाम से कहते हैं वह भगवान् त्रैलोक्य नाथ विष्णु कैसे हो सकता है?

परन्तु भगवत्तत्त्वज्ञभगवत्तत्व निष्ठ भक्त किसी से विवाद नहीं करते। इसमें यही प्रमाण है। क्योंकि भगवन्निष्ठ भक्त उदार हृदय से यह उदार भाव लाकर कि पूर्वोक्त सर्वमतावलम्वी किसी न किसी को अपना अभीष्ट-दाता मानकर उसकी उपासना करते ही हैं। अतः इस अंश में सर्व के एक विचार हैं। पुनः हमारा उनसे विवाद करने की क्या आवश्यकता है? मेरे लिए तो मेरा भगवान् विष्णु भगवान् अभीष्टदाता है ही कर्मादि अंश में कोई विवाद करता है तो करो मेरा उससे क्या सम्बन्ध? यही इस श्लोक का तात्पर्यार्थ है।

उपरोक्त विवेचन से यह श्लोक भी समसमन्वय में प्रमाण नहीं अन्यथा कर्म तथा विष्णु भगवान् के एक मानने में जो दोष कहे हैं, वे अवश्य प्राप्त होंगे जिनका निराकरण अप्रामाणिक युक्तिहीन समन्वयवादी के लिये दुस्तर ही नहीं अतीव दुस्तर है।

एक और भागवत का श्लोक अपने समसमन्वय में प्रमाण दिया है जो निम्नलिखित है—

स एष आत्माऽऽत्मवतामधीश्वरस्त्रयीमयोधर्ममयस्तपोमयः
गतव्यलीकैरजशंकरादिभिर्वितर्क्यलिङ्गोभगवान् प्रसीदताम्॥

भा० व० २-४-१९

वे भगवान् ही ज्ञानियों के आत्मा हैं, भक्तों के स्वामी हैं, कर्म-काण्डियों (मीमांसकों) के लिए वेद मूर्ति हैं, धर्मियों के लिए धर्म मूर्ति हैं और तपस्वियों के लिए तपस्वरूप हैं। ब्रह्मा शंकर आदि बड़े-बड़े देवता भी अपने शुद्ध हृदय से उनके शुद्ध स्वरूप का चिन्तन करते और आश्चर्य चकित हो देखते रहते हैं। वे मुझ पर प्रसाद की कृपा करें।

यह अर्थ कर इस श्लोक से अपने सर्व दर्शन समन्वय को प्रमाणित किया है, प्रकरण सहित श्लोकार्थ पर विचार करने पर तो यह श्लोक उनके समन्वय में प्रमाण नहीं ही सिद्ध होता है। जिस भागवत भाषानुवाद के अनुसार इस श्लोक का अर्थ लिखा है, उन्हीं भाषानुवादक ने इससे पूर्व सतरहवें श्लोक का जो अर्थ किया है, उसे श्लोक के सहित उद्धत करते हैं—

तपस्विनोदानपरा यशस्विनो मनस्विनोमन्त्रविदः सुमङ्गलाः।
क्षेमंन विदन्ति विना यदर्पणं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥

भा० २-४-१७

अर्थ—बड़े-बड़े दानी, तपस्वी, मनस्वी, सदाचारी और मन्त्रवेत्ता जब तक अपनी साधनाओं को तथा अपने आपको उनके चरणों में समर्पित नहीं कर देते तब तक उन्हें कल्याण की प्राप्ति नहीं होती है।

इस श्लोक के अर्थ में तपस्वी आदिकों के लिए अपनी साधनाओं को भगवान् के चरणों में समर्पण करना आवश्यक बताया है। तपस्वी की साधना तप, दानी की दान, यशस्वी की कूप आरामादि का निर्माण, मनस्वियों का मन आदि इन्द्रिय निग्रह, मन्त्र वेत्ताओं का मन्त्र जप तथा सदाचारियों का सदाचार ही साधना है। भाव यह है कि तपदानादिक भगवान् के चरणों में समर्पण द्वारा कल्याण के साधन हैं। कल्याण तो भगवत्प्राप्ति ही है। अतः भगवान् के चरणों में समर्पण द्वारा तप आदिक साधन भगवत्प्राप्ति के हेतु हैं, यही इस श्लोक का तात्पर्यार्थ है।

जब इस श्लोक में तप आदिकों को भगवत्प्राप्ति का साधन कहा पुनः १९वें श्लोक में तप आदिकों को भगवत्स्वरूप कहना अत्यन्त विरुद्ध है। ऐसा विचार करके संस्कृत टीकाकर्ता वैष्णवाचार्यों ने भी इस १९वें श्लोक के धर्ममयः तपोमयः आदि शब्दों का धर्म फलदाता, तपः फलदाता ऐसा ही अर्थ किया है। अतः धर्ममूर्ति आदि शब्दों का धर्म फलदाता आदि ही अर्थ समझना चाहिये, अन्यथा १७वें श्लोक के अर्थ से विरोध प्राप्त होगा।

१७वें श्लोक से ही नहीं अन्य श्लोकों से भी भगवान् को वेद या धर्मादि स्वरूप मानने पर विरोध होगा।

भागवत के प्रथम स्कंध में निम्नलिखित श्लोक आते हैं—

वासुदेवपरा वेदा वासुदेव—परामखाः,
वासुदेवपरायोगा वासुदेवपराः क्रियाः ॥
वासुदेवपरं ज्ञानं, वासुदेवपरं तपः,
वासुदेवपरोधर्मो, वासुदेवपरा गतिः ॥

भागवत-१-२-२८,२९

अर्थ—वेदों का तात्पर्य श्री कृष्ण में ही है, यज्ञों के उद्देश्य श्री कृष्ण ही हैं। योग श्रीकृष्ण के लिये ही किये जाते हैं, समस्त कर्मों की परि-समाप्ति भी श्रीकृष्ण में ही हैं। ज्ञान से (ज्ञान शास्त्र) से ब्रह्म स्वरूप श्री कृष्ण ही की प्राप्ति होती है, तपस्या श्री कृष्ण की प्रसन्नता के लिए ही की जाती है। श्री कृष्ण के लिये ही धर्मों का अनुष्ठान होता है और सब गतियां श्री कृष्ण में ही समा जाती हैं।

उपरोक्त दोनों श्लोकों का अर्थ भागवत के उन्हीं भाषानुवादकों का किया हुआ है जिनका भाषानुवाद, लेखक ने, २-४-१९ वें श्लोक के अर्थ के रूप में दिया है। इन दोनों श्लोकों के भाषानुवाद पर विचार करने से भी यह ही तथ्य निष्पन्न होता है कि वेदों का तात्पर्य श्री कृष्ण में हैं। वेद ही श्री कृष्ण नहीं। यज्ञादि धार्मिक क्रियाओं के उद्देश्य भगवान् हैं, यज्ञादि क्रिया भगवान् नहीं। तपः भगवान् की प्रसन्नता के लिये है, तपः भगवान् नहीं। अतः यदि २-४-१९वें श्लोक के वेदमूर्ति धर्ममूर्ति आदिक शब्दों का यह अर्थ किया या समझा जाय कि ये शब्द भगवान् को धर्मादि से अभिन्न कह रहे हैं तो प्रथम स्कन्ध के श्लोकों के अर्थ से विरोध अवश्यंभावी है। क्योंकि ये श्लोक भगवान् को धर्म तप आदिकों से भिन्न ही कह रहे हैं।

उपरोक्त विवेचन से यही सिद्ध हुआ कि जिस दर्शन का प्रतिपाद्य धर्म, तप आदिक हैं वे भगवान् की प्रसन्नता के साधन के ही प्रतिपादक हैं, भगवान् के नहीं। तब यह मानना, समझना या कहना कैसे सम्भव हो सकता है कि मीमाँसा दर्शन का जो प्रतिपाद्य धर्म है वही भगवत् तत्व प्रति-पादक वेदान्त दर्शन का भी प्रतिपाद्य है? जब दोनों दर्शनों के प्रतिपाद्य धर्म तथा भगवान् की एकता संभव नहीं तब अन्य दर्शनों का सम समन्वय भी संभव नहीं।

सारांश

लेखक का अपने समन्वय में दिया हुआ प्रमाण रूप भागवत का २-४-१९ वां श्लोक निम्न कारणों से समन्वय में कथमपि प्रमाण नहीं।

(१) लेखक ने अपने सर्व दर्शन समन्वय ग्रंथ में जैन, बौद्ध, सांख्य, योग, न्याय एवं वेदान्तादि दर्शनों का समन्वय दिखाते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सर्व दर्शन जिस किसी रूप से सत् चित् आनन्द आत्मा का वर्णन करते हैं। इसलिए सर्व का समन्वय है। इस समन्वय में उपरोक्त श्लोक तभी प्रमाण कहा जा सकता था जब कि यह श्लोक यह वर्णन करता है कि जैन, बौद्ध, सांख्य, योग, न्याय एवं वेदान्तादि सर्व दर्शन आत्मा को सच्चिदानन्द रूप कह रहे हैं किन्तु ऐसा न कह कर केवल धर्म तप मय बतलाया है। अतः यह श्लोक सर्वदर्शन के समन्वय में प्रमाण नहीं।

(२) यह श्लोक तभी कथंचित् सर्वदर्शन के समन्वय में प्रमाण माना जा सकता था जबकि यह श्लोक दर्शनों के प्रतिपाद्य की एकता बतलाता। परन्तु दर्शनों के प्रतिपाद्य की एकता तो यह आभास रूप से कह रहा है यह भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि जिस वेद को भगवान् की मूर्ति रूप से वर्णन कर भगवान् के साथ वेद की एकता, लेखक सिद्ध करना चाहते हैं वह वेद तो किसी दर्शन का प्रतिपाद्य ही नहीं हैं, किसी भी दर्शन के अप्रतिपाद्य वस्तु का दर्शन के प्रतिपाद्य के साथ ऐक्य बताने से दर्शनों का समन्वय सिद्ध नहीं हो सकता, तब यह श्लोक भी दर्शन समन्वय में प्रमाण कैसे सम्भव है ?

यदि कहो कि वेदान्ति तो सर्वं खल्विदं ब्रह्म इत्यादि वाक्यों से सारे जगत को ही ब्रह्मरूप मानते हैं, हमने यदि दर्शनों के प्रतिपाद्य को ब्रह्म या परमात्मा रूप मान लिया तो क्या आपत्ति है ? वेदान्तियों की तरह यद्यपि दर्शनों के प्रतिपाद्य को परमात्मा रूप मानने में कोई आपत्ति नहीं किन्तु ऐसा मानने पर ब्रह्म ही सत्य है, अन्य दर्शनों के प्रतिपाद्य मिथ्या हैं, ऐसा सिद्ध हो जायेगा। ऐसा मानने पर भी लेखक का सर्वदर्शनों का सम-समन्वय सिद्ध न होगा क्योंकि वेदांत का वेद्य ब्रह्म सत्य, अन्यों का प्रतिपाद्य मिथ्या होने से सर्वदर्शनों का प्रतिपाद्य एकसा न होने पर सम-समन्वय सिद्ध नहीं हो सकता। अतः अप्रामाणिक युक्तिहीन सर्वदर्शन समसमन्वय में उक्त श्लोक प्रमाण नहीं।

(३) लेखक जिन वेद, धर्म तथा तप को परमात्म रूप मानते हैं वे वेदादि स्वयं जड़, सादि तथा विनाशी हैं। परमात्मा चेतन अनादि तथा अविनाशी है। इन परस्पर विरुद्ध स्वरूप पदार्थों की एकरूपता न तो सम्भव ही है और न उपरोक्त श्लोक ही उनकी एक रूपता प्रतिपादन कर सकता है जैसा कि पहिले बहुत कुछ इस सम्बन्ध में कह चुके हैं। अतः यह श्लोक लेखक के असंभव समन्वय में प्रमाण नहीं।

(४) किसी प्रकार इस श्लोक को समन्वय का प्रतिपादक मान लिया जाय तथा त्रयीमय शब्द का अर्थ वेदानुवचन स्वीकार कर लिया जाय तो अधिक से अधिक अधीश्वर जगत्पति पर ब्रह्म परमात्मा को सर्वप्राणियों की आत्मा बताने वाले वेदान्त दर्शन तथा वेदानुवचन एवं दान यज्ञ रूप धर्म और तपः प्रतिपादक पूर्व मीमांसा दर्शन का ही समन्वय सिद्ध होगा। अतः सर्वदर्शन सम समन्वय, इस श्लोक से कथमपि सिद्ध होना संभव नहीं। जो वेदान्त तथा पूर्व मीमांसा दर्शन का समन्वय है वह भी यज्ञ, दान, तप, तथा वेदानुवचन को अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा ज्ञान का साधन मान कर ही संभव है। अन्यथा नहीं। जैसा कि भगवान् श्री कृष्ण जी ने गीता में कहा है—**योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगत्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये।** अर्थ—कर्मी लोग फल की आसक्ति त्याग कर अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कर्म करते हैं। अतः पूर्व मीमांसा का प्रतिपाद्य याग, दान और तप आदिक भगवन्मूर्ति नहीं अपितु अन्तःकरण की शुद्धि के साधन हैं। शुद्धि के लिए होने से ब्रह्म के प्रतिपाद्य वेदान्त दर्शन के साथ भी सम समन्वय संभव नहीं, अन्य दर्शनों की तो कथा ही क्या? अतः यह श्लोक सर्वदर्शन समसमन्वय में प्रमाण नहीं।

पूर्वोक्त प्रकार से तीनों श्लोकों की सर्व दर्शन सम समन्वय में प्रमाणता जब सिद्ध नहीं होती तब यही मानना उचित है कि लेखक का यह सर्व-दर्शन समन्वय व्यास जी के महिम्न श्लोक से विरुद्ध तथा अप्रामाणिक है। अतएव सर्वथा अमान्य है।



प्रयोजन-विचार

लेखक ने अपने सर्व दर्शन समन्वय ग्रंथ के निम्नलिखित प्रयोजन बताये हैं, उनके बताये प्रयोजन को उद्धृत कर उसके ऊपर यह विचार किया जा रहा है कि उनके तथाकथित समन्वय से उनका कहा या लिखा प्रयोजन संभव है या नहीं।

(१) दर्शनशास्त्रों के परस्पर विरुद्ध से प्रतीत होने वाले निर्णयों को पढ़कर विद्वानों के हृदय में दर्शन-शास्त्रों के सिद्धान्तों के प्रति असत्यता या अनादर का भाव उदित न हो तथा भौतिक वैज्ञानिकों को हंसी उडाने का अवसर प्राप्त न हो इसी उद्देश्य से दर्शन शास्त्रों के परस्पर विरुद्ध से प्रतीत होने वाले निर्णयों में किस प्रकार समन्वय है उसे प्रदर्शित करने के लिए ही मेरा यह लघु प्रयास है"

विवेचन—लेखक ने उपरोक्त संदर्भ में शास्त्रों के परस्पर विरुद्ध निर्णयों को पढ़कर विद्वानों के हृदत में दर्शनशास्त्रों के सिद्धान्तों के प्रति असत्यता तथा अनादर का भाव उत्पन्न होता है वह न हो, तथा भौतिक वैज्ञानिकों को हमारे शास्त्रों की हंसी उड़ाने का अवसर प्राप्त न हो, यह अपने सर्व दर्शन समन्वय का प्रयोजन बतलाया है।

किन्तु हमने ऐसे कई दशक विद्वानों का दर्शन किया है जो कई दर्शनों के ज्ञाता तथा अध्यापक हैं तथा लेखक के अनुसार वे सर्वदर्शनों का सम समन्वय भी स्वीकार नहीं करते किन्तु हमारे द्वारा प्रदर्शित समन्वय को मानते हैं। उनके हृदय में किसी दर्शन के प्रति अनादर या असत्यता का भाव नहीं है। इसके विपरीत सर्वदर्शन समन्वय के लेखक का दर्शन विशेष में अनादरादि का भाव विद्यमान देखा है।

जो, कई दर्शनों के ज्ञाता तथा अध्यापन कर्ता हैं, वे न्याय, वैशेषिक, योग, मीमांसा जैन तथा बौद्धादि दर्शनों को पढ़ाते हैं तथा पाठकों की उस दर्शन के विषय को समझने के लिए जो शंका होती है उस शंका को उसी दर्शन की प्रक्रिया से दूर कर उस दर्शन का जो वास्तविक भाव है उसे समझाते हैं। अतः इन विद्वानों के इस स्वभाव को देखकर हर व्यक्ति यह

निश्चय कर सकता हूँ कि इनका किसी दर्शन के प्रति अनादर नहीं है।

इसके विपरीत लेखक के पास जब कोई वेदान्त का जिज्ञासु भटक कर वेदान्त पठन करने जाता है तब वेदान्त दर्शन में उठी वेदान्त जिज्ञासु की शंका निवृत्त करना तो दूर रहा यत्रतत्र स्थलों में अपनी ओर से शंका उठाकर उनका निराकरण न कर वेदान्त सिद्धान्त में जिज्ञासु की अनास्था करा देते हैं। जिज्ञासु के यह कहने पर कि या तो आप शंका उठाएं नहीं, उठाते हैं तो उनके निराकरण किये बिना आगे न चलें। उस जिज्ञासु को पढ़ाने का क्रम बन्द कर देते हैं या यह कह कर कि मैं शंका करना जानता हूँ समाधान करना नहीं जानता, उत्तर देने से उपेक्षा कर देते हैं। उनके इस कार्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक के हृदय में ही दर्शनों के प्रति समान आदर नहीं है। जब उक्त समन्वय के जन्मदाता के हृदय में हीं सर्व दर्शनों के प्रति समान आदर नहीं तब इसके पढ़ने वालों के हृदय में समान आदर हो जायगा यह निराशा मात्र है।

उपरोक्त विद्वानों के पठन-पाठन क्रम से उनकें हृदय में परस्पर दर्शनों में असत्यता तथा अनादर का भाव है ही नहीं। अतः यह कहना कि विद्वानों के हृदय में दर्शनों के प्रति उत्पन्न असत्यता तथा अनादर भाव की निवृत्ति इस समन्वय का प्रयोजन है यह सर्वथा असंगत है, क्योंकि विद्वानों के हृदय में असत्यता तथा अनादर जब है ही नहीं तब उसकी निवृत्ति कहना या उसकी निवृति का उपाय बताना ही निरर्थक चेष्टा है।

रही भौतिक विज्ञानवादियों की हंसी उड़ाने के अनवसर की बात, वह तो तब ही प्रमाणित होगी जब देश-विदेश में स्थित विज्ञान प्रयोग-शालाओं के अध्यक्षों के लेख समाचार पत्रों में इस प्रकार छपेंगे कि अब तक हमने भारतीय दर्शनों की जो हंसी उड़ाई है, अब लेखक के सर्व दर्शन समन्वय को पढ़कर उसको हम अपनी भूल मानकर प्रायश्चित कर रहे हैं।

यह बात भिन्न है कि जो न तो दर्शनों के सिद्धान्तों को ही समझते है और न लेखक के सर्वदर्शन समन्वय को ही समझ पाते हैं। फिर भी लेखक ने हमको पुस्तक समर्पित की है अतः उनको प्रसन्न करने के लिए कुछ न कुछ प्रशंसा की बात लिखनी चाहिये। इस स्वभाव से प्रेरित हो प्रशंसा पत्र लेखक के पास आने लगें। भाव यह है कि इस प्रथम संदर्भ में लेखक के द्वारा बताया प्रयोजन कथमपि सिद्ध नही होता है। अतः यह ग्रन्थ लिखना सर्वथा निष्प्रयोजन है।

रही बात साधु शांतिनाथ जैसे विद्वानों की दर्शनों में असत्यता तथा अनादर भाव की। साधु शांतिनाथ ही क्या अन्य भी कोई तादृश विद्वान् हो जो स्रक् चन्दन वनितादि जन्य सुख को ही जीवन का परम लक्ष्य मानता हो, उनकी, उन दर्शनों में, जिनमें स्रक् चन्दन वनितादि सुख में असत्यता तथा अनादर का भाव दर्शाया हो, सत्यता तथा आदर का भाव कैसे संभव है? भले ही आप एक क्या अनेक समन्वय लिखकर रख दें।

साधु शांतिनाथ भी ऐहिक सुख को आदर देते ही थे। जैसा कि लेखक ने स्वयं शांतिनाथ के विषय में लिखा है। "शास्त्र प्रतिपादित सिद्धान्तों का साधु शांतिनाथ ने अति तिरस्कार किया है। शास्त्रकारों को पाखण्डी धूर्त तक कहने का जघन्य पाप किया है। वही साधु शांतिनाथ दो चार कोटि तक भी विचार सहन होने वाले तथा एकमत न होने वाले ऐहिक सुख तथा देश उपकार का आदर करते हैं।

लेखक के इस लेख से यह सिद्ध होता है कि साधु शांतिनाथ ऐहिक सुख को ही आदर देते थे। ऐहिक सुख को आदर देने वाला व्यक्ति तो ऐहिक सुख के साधनों को ही आदर देकर धनादि के सम्पादन में संलग्न रह कर मोक्ष की तो बात क्या परलोक के सुख पर भी दृष्टिपात (विचार) करना नहीं चाहता।

ऐसे मनुष्यों की भावना का श्रुति ने भली प्रकार चित्रण किया है— **न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढ़म्।** धन के मोहसे मूढ़ प्रमाद करने वाले अर्थात् पशु पुत्रादिको में आसक्त मन वाले अविवेकी पुरुष को परलोक तथा उसकी प्राप्ति के साधन प्रतीत नहीं होते। इस उपनिषद् वाक्य से जब इस लोक को छोड़कर परलोक पर भी विषयासक्त का विश्वास होना कठिन है तब निर्विषय मोक्ष तथा विरागादि साधनों तथा उनके प्रतिपादक शास्त्रों पर विश्वास की तो कथा ही क्या है? अतएव तथाभूत स्वभाव मनुष्यों की भावनाओं का चित्रण करते हुए व्यास जी ने कहा है कि—

अपि वृन्दावने शून्ये शृगालत्वं स इच्छति।
न तु निर्विषयं मोक्षं गन्तुमर्हति गौतम॥

विषयासक्त पुरुष जहां छाया के योग्य वृक्ष भी न हों उस वन में शृगाल होना तो चाहता है परन्तु निर्विषय मोक्ष नहीं। अतः भौतिक वादी ऐहिक भोगाभिलाषी पुरुषों के अनादर या परिहर से वचना भी इस का

प्रयोजन कथमपि सिद्ध नहीं होता है।

२. द्वितीय प्रयोजन इस प्रकार प्रदर्शित किया है "किसी एक प्रक्रिया के द्वारा आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर भी जब तक अन्य शास्त्रों का पूर्व उक्त दृष्टि से अध्ययन नहीं किया जायेगा तब तक अन्य दर्शनों की युक्ति युक्तता तथा स्वशास्त्र में भी अपरिहार्य न्यूनता का बोध न होगा। स्वपक्ष के संस्कारों की प्रबलता के कारण अपने पक्ष की श्रेष्ठता का आग्रह बना ही रहेगा। फल यह होगा कि दूसरों के खण्डन करने की प्रवृत्ति बनी ही रहेगी किन्तु जब गुण ग्राहक दृष्टि से सभी शास्त्रों का अध्ययन कर लेते हैं, तब साधकों का चित्त सम्यक् शाँत हो जाता है" लेखक की इन पंक्तियों पर विचार करने पर उनका भाव यह प्रतीत होता है कि हमारी दृष्टि से अर्थात समसमन्वय से जब तक सर्वदर्शनों का अध्ययन न किया जायेगा तब तक दूसरे शास्त्रों के खण्डन की प्रवृत्ति बनी रहेगी। अतः पर खण्डन प्रवृत्ति की निवृत्ति भी इस समन्वय का प्रयोजन है।

जैसा कि हम पूर्व में वर्णन कर चुके हैं कि लेखक के सम समन्वय में जिन विद्वानों का विश्वास नहीं तथा तत्ताद्दर्शनों के जिज्ञासुओं को स्वाध्याय कराते समय तत्तद्दर्शन के प्रतिपाद्य-विषय का जिज्ञासु को आदरपूर्वक ज्ञान हो एतदर्थ उसी दर्शन की पोषक युक्तियाँ देते हैं। इस प्रकार के विद्वानों की खण्डन की प्रवृत्ति कथमपि नहीं मानी जा सकती, ठीक इसके विपरीत समन्वय के लेखक तत्तद्दर्शन के जिज्ञासुओं को तत्ताद्दर्शन का स्वाध्याय कराते समय ही तत्तद्दर्शनों के खण्डन की युक्ति प्रदर्शित करते चलते हैं, अतः लेखककी उक्त समन्वय के विचार से खण्डन की प्रवृति की निवृति हो गई है यह भी कथमपि नहीं माना जा सकता है। अतः लेखक का स्वभाव ही यह निर्देश कर रहा है कि परशास्त्र या सिद्धान्त के खण्डन को प्रवृति पर इस समन्वय या इसके विचार का कोई प्रभाव नहीं होता, होता तो लेखक के स्वभाव पर भी होता। लेखक के स्वभाव परही जब कोई प्रभाव नहीं तब लेखक की यह आशा कि मेरे समसमन्वय विचार से अन्य किसी के खण्डन स्वभाव पर प्रभाव पड़ेगा मरुस्थलके जल से पिपासा उपशाँति की आशा के समान है।

यदि यह कहा जाय कि लेखक तत्तद्दर्शनों के स्वाध्याय कराते समय उस दर्शन का खण्डन इसीलिए करते चलते हैं कि पढ़ते समय ही जिज्ञासु का उसमें आग्रह निवृत्त हो जाय। किन्तु लेखक यह भी कह रहे हैं कि "जिन विशिष्ट साधकों को समय, बुद्धि आदि साधन प्राप्त हैं उन्हें भी प्रथम तो

अपनी श्रद्धा, रुचि तथा योग्यता के अनुसार किसी एक दर्शन का अवलम्बन ग्रहण करके मोक्ष रूप साध्य प्राप्त कर लेना चाहिये, तदनन्तर यदि जीवन शेष रहे तो सर्वदर्शनों का सम्यक् अध्ययन, मनन और परिशीलन करके समन्वय ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए अन्यथा यदि सर्व दर्शनों के अध्ययनादि में ही जीवन काल पूर्ण हो गया तो मोक्ष प्राप्ति से वञ्चित रहने के कारण पुनः जन्म ग्रहण करना पड़ेगा"।

लेखक ने उपरोक्त पंक्तियों में अपना यह भाव व्यक्त किया है कि किसी एक दर्शन का अवलम्बन ग्रहण कर मोक्ष रूप साध्य प्राप्त कर लेना चाहिए। जब अध्ययन काल में ही जिस दर्शन के खण्डन करने की युक्तियाँ प्रदर्शित की जायेंगी तब क्या उस दर्शन में आदरभाव संभव है? आदर भाव न होने पर उस दर्शन का अवलम्बन ग्रहण कर मोक्ष प्राप्त करना सम्भव है। अर्थात् कथमपि संभव नहीं। ऐसी दशा में लेखक का स्वभाव हमको इस निश्चय पर आरूढ़ होने के लिये बाध्य कर देता है कि लेखक की वाणी और निश्चय का मार्ग भिन्न-भिन्न है। अतः वाणी निश्चय तथा निश्चयानुसार कर्म का जब तक समन्वय नहीं तब तक सर्वदर्शन समन्वय भी सम्भव नहीं।

जब एक ही दर्शन का अवलम्ब ग्रहण कर मोक्ष संभव है तब दर्शनों के परिशीलन करने का प्रयोजन ही क्या शेष रह जायेगा? कहा जाय कि स्वदर्शन आग्रह की निवृत्ति ही परिशीलन पूर्वक शास्त्रों के समन्वय का फल है। इस पर यह आकांक्षा स्वाभाविक है कि स्वदर्शन का आग्रह मोक्ष का प्रतिबन्धक है या नहीं। यदि प्रतिबन्धक है तो परिशीलन पूर्वक सर्व दर्शनों के समन्वय के अभाव में मोक्ष एक दर्शन का अवलम्बन ग्रहण कर संभव न होने से एक दर्शन का अवलम्ब ग्रहण कर मोक्ष प्राप्ति का कथन असंगत होगा। यदि प्रतिबन्धक नहीं तो उसकी निवृत्ति के लिए कौन मुमुक्ष प्रवृत्त होगा। क्योंकि विद्वान पुरुष की प्रवृत्ति अपने लक्ष्य के प्रतिबन्धक की निवृत्ति में ही होती है। अतः स्वसिद्धान्त या दर्शन के आग्रह की निवृत्ति भी इस सम समन्वय का प्रयोजन युक्ति तथा लेखक का स्वभाव ये दोनों ही सिद्ध नहीं कर पा रहे हैं। अतः यह लिखने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि सर्व दर्शन सम—समन्वय निष्प्रमाण, निर्युक्तिक तथा निष्प्रयोजन है। अतः उसका लेखन श्रम मात्र है।

लेखक ने गुण ग्राहक दृष्टि से सभी सास्त्रों का अध्ययन समन्वय

दृष्टि उदयपूर्वक चित्तशांत होने में निम्नोक्त प्रमाण दिया है—

यच्छून्यवादिनां शून्यं ब्रह्म ब्रह्मविदांवरम् ।
विज्ञानमात्रं विज्ञानविदां यदमलं पदम् ॥
आत्माऽऽत्मनस्तद्विदुषां नैरात्म्यं तादृशात्मनाम् ।
मध्यं माध्यमिकानां च सर्वं सुसमचेतसाम् ॥

अन्नपूर्णा ३/१६ से २१

जो शून्यवादियों का शून्य है वही ब्रह्मवादियों का ब्रह्म है, वही विज्ञानवादियों का विशुद्ध विज्ञान है। वही आत्म वादियों का आत्मा है। वही निरात्मवादियों का निरात्मतत्व है तथा वही सुसमचित्त वालों के लिए सर्वरूप है। उपरोक्त श्लोक लेखक ने अन्नपूर्णा उपनिषत् के तृतीय अध्याय के १६ से २१ तक तथा योग वासिष्ठ के उपशम प्रकरण के ८० वें अध्याय के २० से २२ तक के लिखे हैं। किन्तु निर्णय सागर बम्बई से सन् १६१७ में प्रकाशित द्वितीय संस्करण रूप १०८ उपनिषदों के समुच्चय में केवल एक ही श्लोक मिला है दोनों श्लोक उसमें नहीं मिले हैं। तथा योग वासिष्ठ के उपशम प्रकरण के ८७ वें सर्ग में १८ से २० तक हैं क्योंकि उस में अध्याय नहीं हैं। योगवासिष्ठ में इन दोनों श्लोकों के मध्य एक और भी श्लोक है जो लेखक ने नहीं लिखा है। वह इस प्रकार है—

पुरुषः सांख्यदृष्टीनामीश्वरो योगवादिनाम् ।
शिवः शशिकलांकानां कालः कालैकवादिनाम् ॥

उपरोक्त श्लोक लेखकोक्त सर्वदर्शन समन्वय से चित्त शाँति में प्रमाण नहीं हैं। क्योंकि इन श्लोकों में यह कहीं नहीं लिखा कि सर्वदर्शनों का साक्षात् प्रतिपाद्य एक तत्व जानकर मनुष्य का चित्त शांत हो जाता है।

यदि 'सुसमचेतसां सर्वम्' इस वाक्यांश से लेखक को भ्रम हो गया हो कि यह वाक्यांश मेरी बात को कह रहा है तो ऐसा भी नहीं है क्योंकि निर्दोषं हि समं ब्रह्म" इस गीता वाक्य से सम शब्द ब्रह्म बोधक है। अतः उपरोक्त वाक्यांश का अर्थ यह है कि—सु=सुष्ठु तत्परता से, समे=ब्रह्म में, चेत=चित्तस्थित है जिनका उन ब्रह्म निष्ठ पुरुषों को सुसम चेता कहा जाता है उन ब्रह्म निष्ठ जीवनमुक्तों का वह तत्व सर्व है अर्थात् निरवशेष पूर्ण तत्व है। यही अर्थ योग वासिष्ठ के संस्कृत टीकाकारों ने किया है, तथाहि—सुसमचेतसाम् जीवन्मुक्तानां सर्वं निरवशेषं पूर्णम्। कथंचित् चित्तशाँति में प्रमाण माना भी जाय तो भी ब्रह्मनिष्ठा से प्राप्त

चित्त शाँति में ही यह श्लोक प्रमाण कहा जा सकता है न कि लेखकोक्त काल्पनिक सम समन्वय से होने वाली शाँति में।

वादियों के विवाद का विषयभूत यावत्पदार्थ ब्रह्म के विवर्त होने के कारण जब सत्य नहीं तो बाधकर सर्व मेरे स्वरूप से अतिरिक्त नहीं किन्तु मेरा ही स्वरूप है। ऐसा ही भावार्थ इस श्लोक के द्वारा वर्णन किया है। ऐसी ब्रह्मनिष्ठा हो जाने पर विवाद का अन्त तथा चित्त शान्त स्वाभाविक ही है। क्योंकि जो रज्जु तत्व को जानता है वह सर्प, जलधारा या माला में आग्रह करने वालों से विवाद करेगा ही नहीं, वह जानता है न, कि जब रज्जु तत्व का ज्ञान हो जायेगा तो इनका विवाद स्वतः शाँत हो जायेगा। अतः वह उन अतत्वदर्शियों को रज्जु तत्व का या तो ज्ञान कराने का प्रयास करता है या उपदेश न मानकर ज्ञान का उपाय नहीं करते तो उनसे उदासीन हो जाता है। भाव यह है कि ब्रह्मात्मतत्व का ज्ञान ही चित्तशांतता या विवादाभाव का कारण है। एक ही ब्रह्मतत्व तत्व ज्ञानियों को सच्चिदानन्द रूप से प्रतीत होता है जो ब्रह्म तत्व को नहीं जानते उनको कर्ताभोक्ता तथा शून्यादि रूप से भिन्न भिन्न रूप में प्रतीत होता है। अतः अतत्त्वज्ञ पुरुषों का विवाद आग्रहपूर्वक रहता है। तत्वज्ञों का नहीं।

सम विषममतीनां मतमनुसरति यथा रज्जु खण्ड: सर्पादिधियाम्।

भागवत स्कन्ध ६ अ० ९ श्लो० ३६

अर्थ—जैसे एक ही रस्सी का टुकड़ा भ्रान्त पुरुषों को सर्प, माला, जलधारा आदि के रूप में प्रतीत होता है। किन्तु जानकार को रस्सी के रूप में, वैसे ही आप भी भ्रान्त बुद्धिवालों को कर्ता भोक्ता शून्यादि अनेक रूप में दीखते हैं, ज्ञानी को सच्चिदानन्द रूप में। आप सभी की बुद्धि का अनुसरण करते हैं। सारांश यह है कि तत्व वस्तु सच्चिदानन्द स्वरूप है। उससे अतिरिक्त कर्ता भोक्ता आदि रूप से दार्शनिकों से पदार्थ अपने दर्शनों में सिद्धांत रूप से कहे हैं वे सर्व पदार्थ अज्ञान का ही विलास है अर्थात भ्रान्ति से ही प्रतीयमान हैं।

एक व्यक्ति रज्जु को रज्जु जानता, मानता तथा वर्णन करता है। उससे अतिरिक्त व्यक्ति माला सर्प या जलधारादि रूप से जानता, मानता तथा वर्णन करता है तो क्या उन सर्व को समान रूप से यथार्थदर्शी कहा जा सकता है? किन्तु नहीं कहा जा सकता। क्योंकि रज्जु द्रष्टा से अतिरिक्त व्यक्ति मिथ्या वस्तु का ही दर्शन करते हैं। उसी प्रकार ब्रह्म तत्व-

दर्शी तथा उनसे अतिरिक्त कर्ता भोक्ता शून्यादि कल्पित वस्तुओं के द्रष्टा समान नहीं हो सकते। न ब्रह्म तत्व प्रतिपादक तथा उससे अतिरिक्त कर्ता भोक्ता शून्यादि कल्पित वस्तु प्रतिपादक दर्शन ही समान हो सकते हैं। उन सर्व दर्शनों के समान न होने पर लेखक का प्रदर्शित सम समन्वय भी कैसे संभव ? असंभव समसमन्वय से आग्रह की निवृति आदिक प्रयोजन कैसे संभव हो सकते हैं ? अतः लेखक का सर्वदर्शन समन्वय निष्प्रयोजन है। अतएव यह आप्तवाक्य विरुद्ध अप्रामाणिक तथा निष्प्रयोजन समसमन्वय सुख शांति के इच्छुक मुमुक्षु को अत्यन्त हेय है।

आत्मसत्ता समन्वय विचार

लेखक ने आत्मसत्ता चित्तादि विषयक वादियों के परस्पर विचार प्रदर्शन पूर्वक अनेक समन्वय प्रदर्शित किये हैं। समन्वय प्रदर्शन स्थलों में समन्वय, सारांश, ध्यानाकर्षण नामक जो शीर्षक दिये हैं, मुख्य रूप से हम उन्हीं पर विचार करेंगे। क्योंकि वे लेखक के अपने विचार हैं।

'आत्म-सत्ता का विचार' नामक प्रकरण, पृष्ठ ८ से पृष्ठ २९ पर्यन्त २१ पृष्ठों में है। उनमें से पृष्ठ ११ से पृष्ठ १८ पर्यन्त ७ पृष्ठों में वेदान्त का खण्डन प्रदर्शित कर शेष १४ पृष्ठों में बौद्ध, जैन, चार्वाक, न्याय, वैशेषिक तथा पूर्व मीमांसा आदिक दर्शनों का परस्पर खण्डन-मण्डन प्रदर्शित किया है। भाव यह है कि यत्र तत्र सर्वाधिक वेदान्त दर्शन के विषयों का खण्डन किया है। अतः वेदांत खण्डन पर कुछ मण्डनात्मक विचार भी लिखेंगे। जिससे मुमुक्षुओं को यह भ्रम न हो कि सर्वाधिक खण्डनीय होने से वेदान्त दर्शन ही स्वसिद्धान्त निरूपण करने में असफल तथा हेय है।

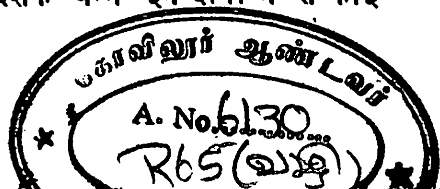
लेखक ने आत्मसत्ता समन्वय में आत्मा को स्थिर स्वीकार किया है। इसी प्रकरण में पृष्ठ ३१ पंक्ति ६ पर लिखा है "बौद्धों ने कहीं-कहीं अस्पष्ट रूप में और कहीं-कहीं स्पष्ट रूप में विशुद्ध विज्ञान को मुक्ति काल में स्वीकार किया है। वह विशुद्ध विज्ञान प्रथम तो प्राचीन बौद्धों के विज्ञान वाद के साथ एक होकर फिर शांकर चैतन्य के साथ एक होता हुआ स्थिर आत्मवाद में प्रविष्ट हो जाता है"। इस पर वक्तव्य यह है कि लेखक स्थिर आत्मवाद का अर्थ संसार से लेकर मुक्ति पर्यन्त क्षणिक विज्ञान धारा का बना रहना स्वीकार करते हैं तो वेदान्त एतादृश विज्ञानधारा मानता नहीं। यदि ज्ञानस्वरूप नित्य एक रस आत्मा को ही स्थिर आत्मवाद का अर्थ मानते हैं तो ऐसा बौद्ध नहीं मानते। ऐसा विचार करने पर बौद्ध दर्शन का विज्ञानवाद, शांकर चैतन्यवाद के साथ एक होकर स्थिर आत्मवाद में प्रविष्ट हो जाता है। ऐसा मानना कोरी कल्पना या भ्रामक विचार मात्र सिद्ध होता है। अतः बौद्ध मत के साथ शांकर वेदान्त का समन्वय प्रदर्शन भी भ्रम मात्र है।

आत्मसत्ता का विचार तथा आत्मसत्ता समन्वय इन दोनों प्रकरणों का आलोडन करने पर लेखक का यह भाव प्रतीत होता है कि वे स्थिर आत्मा में सर्व दर्शनों का समन्वय तो मानते हैं किन्तु इसमें अपना कोई निर्णय नहीं देते कि स्थिर आत्मा परिणामी (विकारी) या अविकारी। उसका कारण यह है कि उनको इन दोनों पक्षों में से कूटस्थ अपरिणामी आत्म पक्ष में ही यह सर्व प्रबल दोष प्रतीत होता है कि स्मृतिजनक संस्कार अपरिणामी होने से आत्मा में कथमपि संभव नहीं। जड़ होने से अन्तःकरण में भी संभव न होने से संस्काराधान की समस्या नहीं सुलझती है। तथा परिणामी स्थिर आत्मपक्ष में भी यह एक प्रबल दोष प्रतीत हो रहा है कि विकारी वस्तु अवश्य नाशवान् सिद्ध होगी। अतः इस पक्ष में आत्मा की नित्यता (स्थिरता) भी सिद्ध न होगी। इन दोनों पक्षों मे अवश्यं-भावी उपरोक्त दोष देख आत्मा की कूटस्थता तथा परिणामिता से उदासीन हो, उन्होंने अपने आत्मसत्ता समन्वय का यथाकथंचित् स्थिर आत्मा में ही पर्यवसान किया है।

लेखक के विचारानुसार अपने अपने ग्रन्थों में उपरोक्त पक्षों के दोषों का समाधान देने पर भी वे समाधान समुचित नहीं है। अतः परिणामी या कूटस्थ स्थिर आत्मा में समन्वय का पर्यवसान नहीं किया।

अपरिणामी कूटस्थ ज्ञानस्वरूप आत्म पक्ष में वृत्ति उपहित आत्मा घटादिकों का प्रकाशक ज्ञान है। अतः कूटस्थ आत्मवादी घटाकार वृत्ति उपहित आत्मा की उपाधि जो वृत्ति उसके नाश से ज्ञान में नाश का व्यव-हार होने से वृत्ति के नाश होने पर उसके अन्तःकरण में संस्कार रहते हैं। वे संस्कार ही स्मृति के जनक हैं। परिणामी स्थिर आत्मवादियों के मत में घट को विषय करने वाला ज्ञान आत्मा में उत्पन्न हो कर नाश को प्राप्त होता हुआ स्वसंस्काराधान करता है वे आत्मनिष्ठ संस्कार ही स्मृति के जनक हैं।

अन्तःकरण निष्ठ संस्कार पक्ष में जो यह दोष दिया जाता है कि "ज्ञान के साधन नेत्र में या दूरदर्शक यन्त्र में स्मरणोत्पादक संस्कारों का आधान नहीं होता, वैसे ही अन्तःकरण में भी संस्कारों का आधान नहीं हो सकता" इसका उत्तर अपरिणामी आत्मवादी इस प्रकार देते हैं कि वृत्य-वच्छिन्न चेतन ज्ञान पद का वाच्य है। ज्ञान पद की वाच्यता में अन्तःकरण कीं वृत्ति का भी प्रवेश है। अतः अन्तःकरण की वृत्ति के नाश से अन्तःकरण में संस्कार आधान संभव है। नेत्र या दूरदर्शक यन्त्र इन दोनों में से कोई



भी ज्ञान पद की वाच्यता में प्रविष्ट न होने से नेत्र या दूरदर्शक यन्त्र को दृष्टान्त देना नहीं बन सकता, क्योंकि ज्ञान का अवच्छेदक न नेत्र है न दूरदर्शक यन्त्र।

शंका—अन्तःकरण जड़ होने से ज्ञाता नहीं हो सकता इस लिये स्मरणोत्पादक संस्कारों का आधान अन्तःकरण में नहीं हो सकता।

समाधान—जड़ होने पर भी चेतन से तादात्म्यापन्नान्तः-करण ज्ञाता के स्वरूप में विशेषण रूप से प्रविष्ट है, अतः उसमें स्मृतिजनक संस्कारों का आधान संभव है। संस्कार ही अन्तःकरण में रहते हों ऐसा ही नही अपितु कर्तृत्व भोक्तृत्व सुख दुःखादि सब अन्तःकरण के धर्म हैं।

यद्यपि लेखक ने तर्क से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि संस्कारादि का आधान अन्तःकरण में संभव नहीं तथापि आत्मा परमात्मा के स्वरूप निरूपण करने तथा संस्कार एवं कर्तृत्वादि धर्मो का निर्णय करने में तर्क का आश्रय लेने वाला मनुष्य सफल नहीं होता है। यह बात हम को ही नहीं अपितु लेखक को भी स्वीकार है। उन्होंने स्वयं आत्मचित्ता विचार प्रकरण के ५५-५६ वें पृष्ठ पर यह लिखा है "जगत् के मूल कारण परमात्मा, आत्मा, धर्म, अधर्म आदि बुद्धि अगम्य अचिन्त्य पदार्थों की तो बात ही क्या, बुद्धिगम्य शारीरिक, सामाजिक एवं आर्थिक विषयों में भी शास्त्रों का प्रामाण्य मुझे सर्वोपरिमान्य है" अतः संस्कार कर्तृत्व भोक्तृत्वादिक किसके धर्म हैं यह निर्णय भी शास्त्र से करना ही उचित है।

मुक्तिकोपपनिषत् में स्पष्टतया लिखा है—

पुरुषस्य कर्तृत्व भोक्तृत्व सुखदुःखादिलक्षणश्चित्तधर्मः
क्लेशरूपत्वात् बन्धनोभवति।

मुक्तिकोपनिषत् अ० २-१

अर्थ—कर्तृत्व भोक्तृत्व सुख दुःखादि रूप चित्त का धर्म, क्लेश रूप होने से पुरुष का बन्ध होता है। मुक्तिकोपनिषत् में स्पष्ट रूप से कर्तृत्व भोक्तृत्व सुख दुःखादि को चित्त का धर्म कहा है। कर्तृत्व शब्द का अर्थ है क्रिया श्रयत्व धर्माधर्म क्रिया जब चित्त में है उसकी (धर्माधर्म क्रिया की) सूक्ष्मावस्था रूप पुण्यपापादृष्ट भी उसी का धर्म है। भोक्तृत्व शब्द का अर्थ है भोक्तापन। सुख दुःख के प्रत्यक्षानुभव के आश्रय को भोक्ता कहते हैं। अतः सुख दुःखादिक का प्रत्यक्षानुभव भी उसी का धर्म है। अनुभव जन्य

स्मृति के हेतु भूत संस्कार, सुख दुःख तथा आदि शब्द से इच्छा आदिक भी उसी के धर्म हैं। अतः शास्त्र विरुद्ध अर्थ को सिद्ध करने वाला यह तर्क कि जड़ होने से अन्तःकरण अनुभव कर्ता नहीं हो सकता या उसमें संस्कार का आधान संभव नहीं है, शुष्क तर्क अर्थात् तर्काभास है। तर्काभासों से शास्त्र से निर्णीततत्व का अन्यथा निरूपण करना पुनः अपने को शास्त्र-प्रामाण्याभिमन्ता कहना यह दोनों बातें परस्पर पूर्व-पश्चिम की भांति विरोधी हैं।

भाव यह है कि वेदान्ति उपरोक्त विवेचनानुसार अपनी प्रक्रिया से शास्त्राविरोधी तर्क से कर्तृत्व, भोक्तृत्व, धर्माधर्म, सुख दुःख, इच्छाद्वेष तथा संस्कारादि रूप धर्मों को अन्तःकरण के धर्म सिद्ध कर आत्मा को निर्विकार सिद्ध कर देता है। भगवान् ने भी गीता में सविकार क्षेत्र के वर्णन की प्रतिज्ञा कर उसका निम्नोक्त दो श्लोकों से वर्णन किया है—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंचचेन्द्रिय गोचराः॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकार मुदाहृतम्॥

अ० १३-५, ६॥

उपरोक्त श्लोकों में क्षेत्र तथा उसके विकारों का (धर्मों का) वर्णन होने से इच्छा द्वेष सुख-दुःख अन्तःकरण की वृत्ति रूप चेतना तथा धृति ये सर्व क्षेत्र के ही धर्म हैं क्षेत्रज्ञ के नही। अतएव भगवत्पाद शंकराचार्य जी महाराज उपरोक्त श्लोकस्थ स्वभाष्य लिखते हैं, **सर्वान्तःकरण धर्मोपलक्षणार्थं मिच्छादि ग्रहणम्।** श्लोक में इच्छा आदि का ग्रहण अन्तःकरण के अनुक्त धर्मों के उपलक्षण के लिए है। अतः श्रुति, स्मृति तथा तदनुकूल तर्क का आश्रय लेने पर संस्काराधान तथा कर्तृत्वादि की समस्या वेदान्ति के पक्ष में सहज ही में सुलझ जाती है।

जब स्थिर परिणामी आत्मवादी से यह प्रश्न किया जाता है कि यदि आत्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्व इच्छा द्वेषादिक धर्म उत्पन्न होते हैं तो वह विकारी हुए बिना कैसे रह सकता है? विकारी वस्तु कभी न कभी अवश्य नष्ट होगी। अतः स्थिर (नित्य) न रह सकेगी। वह इस प्रश्न का अपनी प्रक्रिया से कोई समुचित उत्तर नहीं दे पाता।

अपने पक्ष में दिया हुआ यह तर्क कि जैसे मिट्टी, सकोरा आदि पर्यायों के रूप में परिणामी है तथा द्रव्य रूप में स्थिर भी है। वैसे ही आत्मसत्ता भी परिणामी होकर स्थिर भी है।" यह तर्क भी अधिक से अधिक कुछ काल स्थायी आत्मा को ही सिद्ध करता है न कि सदा स्थिर नित्य।

यदि कहा जाय कि हम आत्मा को नित्य सिद्ध नहीं करना चाहते, तो अपने दर्शन से विरोध होगा क्योंकि उनका दर्शन आत्मा को नित्य मानता है। यदि समन्वय लेखक यह कहें कि स्थिर आत्मा में हमको समन्वय विवक्षित है, वह चाहे सदा स्थिर हो या किंचित्काल के लिए, इसमें हमारा कोई विवाद नहीं। तब लेखक के समन्वय को पढ़कर आत्मा स्थिर है सो स्थिर आत्म मैं हूँ ऐसा निश्चय करके अधिकारी को यदि यह आशंका हुई कि मैं स्थिर तो हूं किन्तु किंचित्काल स्थिर हूँ या सर्वदा। इस शंका का कुछ समाधान न मिलने से आत्मा की स्थिरता का असंदिग्ध निर्णय न होगा। अतः संशय रूप भ्रान्ति बनीं ही रहेगी।

सारांश यह है कि अपरिणामी नित्य कूटस्थ एक रस आत्मवादी, अन्तःकरण को ज्ञाता तथा कर्ता आदि में विशेषण रूप से प्रवृष्ट मानकर श्रुति से कर्तृत्व भोक्तृत्व ज्ञातृत्व सुखदुःखादिक सर्व विकारों को अन्तःकरण का धर्म सिद्ध कर आत्मा को अविक्रिय कूटस्थ नित्य सिद्ध करने में जैसा सफल हो जाता है, वैसा परिणामी तथा नित्य आत्मवादी आत्मा को विकार युक्त मानकर श्रुति तथा युक्ति का अवलम्ब न मिलने से नित्य सिद्ध करने में सफल नहीं हो पाता। अतः आत्म—सत्ता का स्थिर आत्म में समन्वय कहकर अविक्रिय कूटस्थ नित्य आत्मा ही स्थिर आत्मशब्द से अभिमत है, ऐसा न माननेसे यह समन्वय निष्प्रयोजन संशयाधापक मात्र है यही मानना होगा। इन सर्वन्यूनताओं को नित्य सिद्ध अपरिणामी कूटस्थ आत्म पक्ष में ही निवृत किया जा सकता है। अतः वेदान्त रीति से नित्य कूटस्थ आत्मा में ही समन्वय मानना उचित है।

स्थिर आत्मा में समन्वय मानने पर भी वह समन्वय उपरोक्त प्रदर्शित विवेचन से वेदान्ताभिमत नित्य निष्क्रिय निर्विकार कूटस्थ आत्मा में ही पर्यवसित होगा। यह निर्णय करने के पश्चात् लेखक ने समन्वय की जो तीन दृष्टियों का फल प्रदर्शित किया है उस पर विचार करते हैं।

"सभी दर्शनों का निष्पक्ष गुणग्राही उदार हृदय से विचार करने पर समन्वय की निम्नलिखित तीन दृष्टियां फलित होती हैं"

१. सभी ने देहादि अनात्मवर्ग से पृथक् आत्मसत्ता को स्वीकार किया है।

२. सभी ने मुक्ति अवस्था में राग द्वेषादि से रहित आत्मा को स्वीकार किया है।

३. सभी ने अपने-अपने पक्ष की सिद्धि पहिले तो अनुभव से तथा अनुभवानुकूल युक्तियों से की है। फिर अन्तिम स्थलों में परिशेष न्याय से की है" पहिली दृष्टि का लेखकोक्त फल तथा उस पर विवेचन "पहिली दृष्टि संसार से वैराग्य कराती है" इत्यादिक प्रथम दृष्टि का फल लेखक ने लिखा है।

विवेचन—देहादि अनात्म वर्ग से पृथक् स्वीकार करना प्रथम दृष्टि है। देह से बाह्य या ब्रह्माण्ड भी अनात्मा है ऐसा चार्वाक भी स्वीकार करता है। देहातिरिक्त ब्रह्माण्ड पदार्थ से भिन्न आत्मा को मानने पर भी वह तो कभी वैराग्य की बात भी नहीं करता उसका मानना तो दूर रहा। प्रत्युत

> यावज्जीवेत सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वाघृतं पिबेत्।
> भस्मी भूतस्य देहस्य पुनारागमनं कुतः।

इस प्रकार ऐहिक सुख ही जीवन का परम लक्ष्य है इस विचारधारा का ही प्रचारक है न कि इनसे वैराग्य का। यदि कहा जाय कि देहेन्द्रियादिक अनात्मपदार्थों से पृथक् आत्मज्ञान, वैराग्य का हेतु हैं, यह भी सम्भव नहीं क्योंकि देहादिकों से भिन्न आत्मज्ञानी भी विषय प्रेम से पुनर्जन्म में भी प्रिय स्रक् चन्दन वनितादि विषय प्राप्ति हेतु धर्माचरण करता है। अतएव भगत्वपाद ने बृहदारण्यक उपोद्घात भाष्य में कहा है **"अस्त्यात्मा देहान्तर सम्बन्धी इत्येवं प्रतिपत्तु देहान्तरगतेष्टानिष्ट प्राप्ति परिहारोपायविशेषार्थिनस्तद्विशेषज्ञापनाय कर्मकाण्डमारब्धम्"**

देहान्तर सम्बन्धी अर्थात् इस देह से अतिरिक्त अन्य देह का सम्बन्धी देहादिकों से भिन्न आत्मा है ऐसा आत्मा को जानने वाला, अतएव इस देह से भिन्न देह में प्रिय पदार्थों की प्राप्ति, तथा अप्रिय पदार्थो की निवृत्ति तथा इनके उपाय, के इच्छुक पुरुष को, स्वर्गीय पदार्थ एवं स्रक् चन्दन वनितादि प्रिय पदार्थो की देहान्तर में प्राप्ति तथा अप्रिय यमदूत सिंह व्याघ्रादि

अनिष्ट पदार्थों की निवृत्ति इनके विशेष उपाय के बोधन, करने के लिए ही वेद के कर्मकाण्ड भाग का आरम्भ हुआ है।"

देहादि से अतिरिक्त आत्म सत्ता को स्वीकार करना वैराग्य का अव्यभिचारि साधन नहीं। ऐसा उक्त विवेचन तथा भाष्य प्रमाण से सिद्ध हो जाने से प्रथम दृष्टि का लेखकोक्त वैराग्य रूप फल सिद्ध न होने से प्रथम समन्वय दृष्टि निष्फल ही है।

जब देहातिरिक्तात्म दृष्टि वैराग्य का हेतु नहीं तब अनेकानेक दुःख कारणों को शिथिल करतो है, यह कहना भी भ्रामक प्रचार ही है। क्योंकि देहातिरिक्तात्म बुद्धि, देहान्तरगत इष्ट पदार्थों की प्राप्ति तथा अनिष्ट पदार्थों की निवृत्ति के उपाय भूत कर्मों में प्रवृत्ति द्वारा पुनर्जन्म (देहान्तर सम्बन्ध) तथा देहान्तर के सम्बन्ध निमित्तक सुख दुःख का हेतु होने से अनेकानेक दुःखों या उनके कारणों की शिथिलता का हेतु कथमपि संभव नहीं प्रत्युत जन्म मरण रूप दुःख की दृढ़ता का ही द्योतक है।

उत्तम से उत्तम शरीर में भी सुख दुःख का सम्बन्ध बना ही रहता है। अतएव श्रुति है कि **'न सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिय योर पहतिरस्ति'** शरीर सहित पुरुष के सुख दुःख का नाश नहीं होता है।

उपरोक्त विवेचन से देहान्तरगत सुख प्राप्ति आदि के उपायभूत कर्मों में प्रवृत्ति का कारण अतएव जन्ममरण रूप दुःख की दृढ़ता का द्योतक तथा पर देह सम्बन्धी इष्ट विषयों में आसक्ति का कारण देहातिरिक्तात्म-ज्ञान न तो मुक्त्यन्मुख कर्ता है न संसार की अनासक्ति का ही कारण है। फलतः प्रथम समन्वय दृष्टि सर्वथा निष्फल है। होनी भी चाहिए क्योंकि अन्याभियुक्तों की तो बात ही क्या श्री भगवान् के भी वाक्यों से विरुद्ध हैं। भगवान् का वाक्य है कि **'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःख योनयः एवते। आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।** गीता ५/२२. । जो इन्द्रिय तथा विषयों के सम्बन्ध से उत्पन्न भोग है वे दुःख के कारण हैं तथा आदि और अंत वाले हैं। अतएव अनित्य तथा दुःखदायी होने से ही उन विषयों में विवेकी पुरुष प्रीति नहीं करते। भाव यह है विषयों को अनित्य तथा दुःख का मूल कारण जानना ही, विषयों में प्रीति न होने अथवा वैराग्य का कारण है न कि देहादि से भिन्न कर्ता भोक्ता सुखी दुःखी आत्मा का ज्ञान।

शंका—यदि आत्मज्ञान विराग का कारण नहीं है तो भगवान् ने

द्वितीयाध्याय के ५९ वें श्लोक में रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते। पर कहिये देहादिकों से पर आत्मा को जानकर पुरुष का राग नष्ट हो जाता है। ऐसा क्यों कहा ?

समाधान—भगवान् ने केवल, देहादिकों से भिन्न मैं हूं, इस प्रकार के आत्मदर्शन को राग की निवृत्ति का हेतु नहीं कहा किन्तु आत्मा से अभिन्न परमात्म तत्व का ज्ञान ही राग की निवृत्ति का हेतु कहा है। उपरोक्त राग निवृत्ति भगवान् को द्विविधाभिमत है। (१) स्थूल राग निवृत्ति (२) सूक्ष्म राग निवृत्ति।

स्थूल राग निवृत्ति जो साधन दशा में अपेक्षित है जिसके विषय में लेखक ने कहा है कि जिससे साधन दशा में बहुत ही सहायता मिलती है उस स्थूल राग की निवृत्ति रूप वैराग्य का हेतु विषय दोष दर्शन है न कि देहादि से भिन्न आत्मज्ञान। सूक्ष्म रागकी निवृत्ति रूप वैराग्य का हेतु आत्माभिन्न परमात्मज्ञान है न कि देहादि से आत्मभेद ज्ञान। अतएव भाष्य-कार ने परं दृष्ट्वा इन पदों का अर्थ करते हुए लिखा है कि परं परमार्थ तत्त्वं ब्रह्म दृष्ट्वोपलभ्य अहमेव वदिति। परमार्थ तत्त्व ब्रह्म को वह ब्रह्म मैं ही हूँ इस प्रकार जानकर पुरुष का राग निवृत होता है। ऐसा लिखा है, न कि देहादि से भिन्न जानकर। अतः दोनों प्रकार के वैराग्यों में से किसी प्रकार के भी वैराग्य का देहादि भिन्नात्म ज्ञान कारण न होने से प्रथम समन्वय दृष्टि सर्वथा निष्फल तथा भगवान् और आचार्यों के वचनों से भी विरुद्ध है।

'दूसरी दृष्टि का फल तथा विवेचन"

दूसरी दृष्टि के अनुसार मुक्ति अवस्था में आत्मा में राग द्वेष आदि दोषों का सर्वथा अभाव है। अतः वहां दुःख की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती जिससे मुक्ति रूप पुरुषार्थ में मनुष्य की परम आस्था हो जाती है।

विवेचन—सभी दर्शनों का निष्पक्ष गुणग्राही, उदार हृदय से विचार करने पर समन्वय की तीन दृष्टियों का उत्पन्न होना लेखक ने माना है। उनमें से प्रथम दृष्टि का वैराग्य उत्पन्न होना जो फल बतलाया है। वह भगवद्वचनों से भी विरुद्ध है। यह उपरोक्त प्रकरण (अनुच्छेद) में कह चुके हैं।

द्वितीय दृष्टि का फल मुक्तिरूप परमपुरुषार्थ में परम आस्था होना

बतलाया है। तथा आत्मवाद पृष्ठ १२६ पर नम्र निवेदन प्रकरण में लिखते हैं कि साधक को पहिले अपनी योग्यता एवं संस्कारों के अनुसार किसी एक दर्शन की प्रक्रिया का आश्रय लेकर अपने श्रद्धेय महापुरुष के माध्यम से निज हृदयस्थ संशयों का निवारण करके साक्षात्कार कर लेना चाहिये। ऐसे ही प्रसंग में पृष्ठ ३४ सारांश प्रकरण में लिखा है। अन्यथा परिणाम यह होगा कि किसी भी शास्त्र में श्रद्धा न होने पर आत्मसाक्षात्कार से विमुख हो जाना पड़ेगा। जिससे संसार सागर के चक्कर में पड़कर नाना प्रकार के दुःख उठाने पड़ेंगे। अर्थात् मुक्ति नहीं होगी।

लेखक के उपरोक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि वे अपनी समन्वय दृष्टि से पूर्व किसी एक दर्शन की प्रक्रिया से तत्त्व साक्षात्कार कर लेना आवश्यक मानते हैं। अन्यथा संसार दुःख निवृत नहीं होगा। अर्थात् मुक्ति प्राप्ति के लिए आत्म साक्षात्कार स्वसमन्वय से पूर्व आवश्यक है। मुक्ति के लिये आत्मसाक्षात्कार के उपाय भूत साधनों में साधक की तावत्प्रवृत्ति होना असंभव है यावत् साधक मुक्ति में आस्था नहीं करेगा। वह आस्था उसको उसी दर्शन से हो गई है, या निष्काम कर्मादिकों से हो गई है तो, बहु परिश्रम-साध्य, सर्व दर्शनों के गम्भीर ग्रन्थों का अर्थ ज्ञान पूर्वक स्वाध्याय, का ही वह फल है ऐसा कभी नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः '**स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसाहरितोषणात्। साधनं प्रभवेत्पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम्॥** इस अभियुक्त उक्ति से विवेक वैराग्य मुमुक्षादि साधन निष्काम धर्मानुष्ठान से ही सिद्ध होते हैं। मोक्ष इच्छा, मोक्षमें आस्था हुए बिना संभव नहीं हैं। अतः धर्मानुष्ठान का ही फल मोक्ष में आस्था है न कि समन्वय का।

दृष्ट दुःख की निवृत्ति के लिये भी आत्मनिष्ठा का ही अभ्यास करना चाहिए। क्योंकि श्रुति कहती है, "**ब्रह्म संस्थोऽमृतत्वमेति**" आत्म साक्षात्कार होने पर अन्य शास्त्रों का त्याग, व्यर्थ होने से अनेक श्रुतियां कहती हैं। यथा—**ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः।**

पलालमिव धान्यार्थी, त्यजेद्ग्रन्थमशेषतः॥

अर्थ—विवेक समर्थ बुद्धिमान् पुरुष ग्रन्थ का अभ्यास कर ज्ञान (शास्त्रीय ज्ञान उस शास्त्र का जिसको उद्देश्य बना आत्मसाक्षात्कार करना चाहता है।) विज्ञान (अपरोक्ष आत्मज्ञान) में तत्पर हो अशेष ग्रन्थों को त्याग दे।

"तमेवधीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मण: ।
नानुध्यायाद्बहून् शब्दान्वाचो विग्लापनं हितत् ।। बृ० उ० ४-४-२१

शास्त्राचार्योपदेश से उस आत्मा को जानकर तद्विषयक प्रज्ञा का अभ्यास करे । बहुत शब्दों का अर्थात् अधिकशास्त्रों का अनुध्यान न करे क्योंकि आत्मसाक्षात्कार या आत्मनिष्ठा के लिये उसकी आवश्यकता न होने से बहुत शास्त्रों का अनुध्यान (चिंतन) तथा कथन मन वाणी का श्रम मात्र ही है।

सारांश यह है कि सर्व दर्शनों के गम्भीर ग्रंथों के चिरकाल तथा बौद्धिक परिश्रम से साध्य स्वाध्याय से प्राप्त द्वितीय समन्वय दृष्टि का फल-मुक्ति रूप पुरुषार्थ में मनुष्य की परम आस्था उत्पन्न होना बतलाया है। किन्तु जैसा कि सप्रमाण पूर्व में कह चुके हैं कि धर्मानुष्ठान से ही मोक्ष में परम आस्थापूर्वक मुमुक्षा मनुष्य को उत्पन्न होती है। उसके पश्चात् वह मोक्षशास्त्र में प्रवृत हो गुरु द्वारा उसका अध्ययन कर मोक्ष के साधन आत्मसाक्षात्कार को प्राप्त कर लेता है। उसके पश्चात् अधिक शास्त्रों के स्वाध्याय का श्रुतियां सदैव त्याग कहती हैं। अतः लेखकोक्त समन्वय दृष्टि का फल मोक्ष की आस्था नहीं।

जीवन्मुक्ति की प्राप्ति के लिये भी बहुत शास्त्रों के स्वाध्याय की आवश्यकता शास्त्र अथवा अभियुक्त पुरुष नहीं कहते। प्रत्युत मनोनाश, वासनाक्षय पूर्वक तत्त्व ज्ञान के अभ्यास का ही कथन करते हैं। जिससे कि अधिकारी तत्त्वनिष्ठ हो जीवनमुक्त हो जाता है। ऐसा लेखक ने भी आत्मवाद पृ० १२७ पर लिखा है कि उस परिपक्वनिष्ठानंद से विषयानंद को तुच्छ करके जीवन्मुक्ति का आनन्द लेना चाहिये।

अनेक दर्शनों के गम्भीर ग्रंथों के स्वाध्याय को न तो उपनिषदों ने न अभियुक्तों ने ही आत्मसाक्षात्कार या तत्त्वनिष्ठा का कारण बताया है। किन्तु बोध के लिए तथा बोध प्राप्त्युत्तर ब्रह्मनिष्ठा के लिये उनको विघ्नरूप तथा व्यर्थ होने से त्याग ही कहा है। अत: यह अनेक दर्शनों के गंभीर ग्रंथों का बहुकाल तथा बहु परिश्रम से साध्य अध्ययन न तो मुक्ति में परम आस्था का साधन है न तत्त्व साक्षात्कार का न ब्रह्मनिष्ठा का है। अतः निष्प्रयोजन, शास्त्र तथा अभियुक्तों के वचनों से विरुद्ध होने से मुमुक्षु पुरुषों के लिए केवल श्रम मात्र होने से अत्यन्त हेय है।

"तृतीय दृष्टि का फल, तथा विवेचन"

तीसरी दृष्टि सभी दर्शनों को अनुभूति मूलक तथा युक्ति मूलक बतलाती है। एवं बुद्धि का सामर्थ्य कितना है यह भी प्रदर्शित करती है। इस से पर पक्ष का आदर, स्वपक्ष में स्थिति एवं दुराग्रह का अभाव हो जाता है। कारण कि सभी वादियों ने सार्वजनिक निर्विवाद स्पष्ट अनुभूतियों का ही भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं से विश्लेषण किया है। उस विश्लेषण में युक्ति एवं अनुभूति का सर्वत्र आदर किया गया है। जहां जाकर मनुष्य की बुद्धि की सामर्थ्य आगे विचार करने में कुण्ठित हो जाती है। वहां अगत्या=अन्य कोई गति न होने के कारण ही मान्यता रूप से कुछ स्वीकार किया है। उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि देहादि अनात्म वर्ग से सर्वथा भिन्न स्थिर आत्मसत्ता सभी वादियों को मान्य है। इसलिये आत्म सत्ता के विषय में सभी दर्शनों का समन्वय हो सकता है। इस में कुछ विरोध नहीं आता। मुख्य-समस्या संस्काराधान की है। अस्थिर क्षणिक, परिणामी स्थिर, अपरिणामी स्थिर इन तीनों पक्षों में संस्काराधान का समाधान परिशेष न्याय को छोड़कर साक्षात् नहीं दिया जा सकता। इसलिये सभी ने ऐसे स्थलों में निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है :

"यत्रोभयोः समोदोषः परिहारश्च तादृशः।
नैकः पर्यनुयोक्तव्य स्तादृगर्थ विचारणे।।"

जो दोष और उसका समाधान दोनों पक्षों में एक से हों उस विषय में एक पक्ष को ही समाधान देने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता।

विवेचन—उपरोक्त विस्तार से वर्णित तृतीय दृष्टि के फलान्तर्गत

(१) सभी दर्शनों का अनुभूति तथा युक्तिमूलक बतलाना।

(२) बुद्धि का सामर्थ्य प्रदर्शन करना।

(३) पर पक्ष का आदर तथा स्वपक्ष में स्थिति एवं दुराग्रह का अभाव।

(४) विचार करने में बुद्धि के सामर्थ्य के कुण्ठित हो जाने पर और कोई गति न रहने के कारण मान्यता रूप से कुछ स्वीकार करना। इन चार बातों का सभी दर्शनों में समान रूप मानकर अन्त में अनात्म वर्ग से भिन्न स्थिर आत्मा में सर्ववादियों के दर्शनों का समन्वय निर्विरोध सिद्ध है। यह तृतीय दृष्टि का मुख्य फल माना है।

लेखक की इस मान्यता में यह कहना है कि यदि सर्वदर्शनों की मान्यता अनुभव मूलक होती तो अपनी अपनी मान्यता में युक्ति न देते। किंतु केवल अनुभव से निर्णय न देकर युक्ति का भी आश्रय लिया है। युक्ति मनुष्य की बुद्धि के सामर्थ्य पर आधारित है। परन्तु जैसा कि लेखक ने जगत्कारणावाद प्रकरण के पृष्ठ १२० में महाभारत भीष्मपर्व ५/१२ का श्लोक उद्धृत कर—

> "अचिन्त्या: खलु ये भावा न तांस्तर्केण साधयेत्।
> प्रकृतिभ्य: परंयत्त् तद चिन्त्यस्य लक्षणम्॥"

इसका अर्थ लिखा—जो पदार्थ अचिन्त्य है उन्हें तर्क की कसौटी पर न कसे (अर्थात् शास्त्र से निर्णय करे) प्रकृति से परे जो पदार्थ हैं, उन्हें अचिन्त्य जानो। इसके अनुसार प्रकृति से परे आत्मादिक पदार्थों का निर्णय पर्याप्त सामर्थ्य से हीन बुद्धि पर आधारित केवल तर्कों से सम्भव नहीं। ऐसी दशा में श्रुति को ही ऐसे निर्णयों में गति होने पर भी, उसे मुख्य स्थान न देकर, गति के अभाव में मान्यता रूप में कुछ न कुछ मानने की बात निराधार है।

ऐसा विचार न करके लेखक ने स्थिर आत्मा में सर्वदर्शनों के निर्विरोध समन्वय की बात कह डाली है। अतः जब एक दर्शन, परिणामी स्थिर आत्मा मानता है, दूसरा इस पक्ष में अनित्यता का दोष देकर नित्य कूटस्थ एकरस स्थिर आत्मा मानता है। या एक दर्शन अपरिणामी आत्मा मानता है, दूसरा उसमें दोष देकर परिणामी आत्मा सिद्ध करता है। तब स्थिर आत्मा में सर्वदर्शनों का तथाकथित निर्विरोध समन्वय कौन सा मुख लेकर बुद्धिमानों के समाज में स्थान पा सकेगा।

यदि कहा जाय परिणामिता अपरिणामिता के विवाद को त्याग केवल देहादिकों से भिन्न स्थिर आत्मा मात्र में तो सर्वदर्शनों का समन्वय हो ही सकता है। इस पर वक्तव्य यह है कि इस प्रकार के निर्णय में सामर्थ्य हीन अनुभव तथा तर्कों पर आधारित समन्वय से सिद्ध स्थिर आत्मा में जब यह प्रश्न अधिकारी का उठेगा, कि मैं स्थिर तो हूँ परन्तु परिणामी हूँ या अपरिणामी इसका समाधान क्या होगा।

यदि लेखक कहे कि पहिले जिस दर्शन का आश्रय लेकर आत्मसाक्षात्कार किया है, उसी के अनुसार इस शंका का समाधान कर लेना चाहिये अर्थात् अपरिणामी स्थिर आत्मसत्ता के प्रतिपादक दर्शन से आत्मसाक्षात्कार

किया हो तो इस शंका के उत्तर में, मैं अपरिणामी स्थिर आत्मा हूं, ऐसा समाधान हो जायेगा। तथा परिणामी स्थिर आत्मा के प्रतिपादक दर्शन से आत्म साक्षात्कार किया है तो पूर्वोक्त शंका के उत्तर में, मैं परिणामी स्थिर आत्मा हूं ऐसा समाधान हो जायेगा।

इस पर वक्तव्य यह है कि जीवन का लम्बा समय व्यय कर सर्व-दर्शनों के स्वाध्याय के पश्चात् समन्वय कर लेने पर भी यदि पूर्वदर्शन की ही अन्ततोगत्वा शरण लेनी पड़े तो समन्वय का क्या प्रयोजन ?

यदि यह बताया जाय कि अपने पक्ष का आग्रह, तथा दूसरे दर्शनों के खण्डन की प्रवृत्ति की निवृत्ति ही समन्वय का प्रयोजन है।

इस पर वक्तव्य यह है कि स्वदर्शन का आग्रह तथा परपक्ष या दर्शन के खण्डन की प्रवृत्ति आत्मसाक्षात्कार तथा आत्मसाक्षात्कार से होने वाली मुक्ति का बाधक है या नहीं। कहो कि बाधक प्रतिबन्धक है, तो आत्म-साक्षात्कार ही नहीं होगा, पुनः यह कहना कैसे संभव हो सकता है जैसा लेखक ने आत्मसत्ता समन्वय प्रकरण पृष्ठ ३५ में लिखा है कि आत्मसाक्षा-त्कार हो जाने पर भी स्वपक्ष के संस्कारों की प्रबलता के कारण, अपने पक्ष की श्रेष्टता का आग्रह बना ही रहेगा। फल यह होगा कि दूसरों के खण्डन करने की प्रवृत्ति बनी ही रहेगी। यदि आत्मसाक्षात्कार होने पर भी श्रेष्ठता का आग्रह और खण्डन प्रवृति बनी रहती है, अतः आत्मसाक्षात्कार का प्रतिबन्धक नहीं यह कहा जाय तो आत्मज्ञान तथा मुक्ति का अप्रतिबन्धक, श्रेष्ठता का आग्रह तथा खण्डन की प्रवृत्ति, भोजनादि में प्रवृत्ति की तरह बनी रहे तो क्या आपत्ति तथा उसके निवारण की आवश्यकता ही क्या। तब निष्प्रयोजन सर्वदर्शनसमन्वय की क्या आवश्यकता।

अनादि चिरकाल से दृढ़ विषयानंद का तिरस्कार, परिपक्व दृढ़ निष्ठानंद या विद्यानंद के बिना केवल विचारमात्र से संभव नहीं, अतः "विद्यानंद के द्वारा विषयानंद का अतिक्रमण करके जीवन्मुक्ति का आनंद प्राप्त कर लेना चाहिए"। स्व सिद्धान्तानुसार साक्षात्कार किए हुए आत्मतत्त्व में दीर्घकालीन निरन्तर अभ्यास द्वारा निष्ठा का परिपाक करना चाहिये। उस परिपक्व निष्ठानंद से विषयानंद को तुच्छ करके जीवनमुक्ति का आनंद लेना चाहिये। ऐसा आत्मवाद प्रकरण पृ० १२७ पर लिखकर लेखक ने सर्व दर्शनों के स्वाध्याय से विद्यानंद को तथा परिपक्वात्मतत्त्व निष्ठा को जीवन्मुक्ति के आनन्द का साधन कहा है।

तथापि उनमें से मनोनाश, वासनाक्षय, तत्त्वज्ञान से हुई तत्त्वनिष्ठा ही जीवन्मुक्ति के आनंद का हेतु शास्त्र में भी कहीं है अतः उचित नहीं है, किंतु आस्तिक नास्तिक दर्शनों के क्लेश साध्य स्वाध्याय को जीवन्मुक्ति के आनंद का साधन शास्त्र में कहीं भी लिखा नहीं। अतः जीवन्मुक्ति के आनन्दार्थ भी उसकी आवश्यकता न होने से यह सर्वदर्शन समन्वय, तथा उसके लिये किया गया आस्तिक-नास्तिक दर्शनों का क्लेश साध्य अध्ययन निष्प्रयोजन तो है ही प्रत्युत क्लेशप्रद होने से विक्षेप, अहंकार एवं दुःखप्रद भी है।

अस्थिर क्षणिक, परिणामी स्थिर, अपरिणामी स्थिर, इन तीनों पक्षों में संस्काराधान की समस्या का समाधान परिशेषन्याय को छोड़कर साक्षात् नहीं दिया जा सकता। लेखक की यह मान्यता इसलिये उचित नहीं कि अपरिणामी कूटस्थ आत्म पक्ष में संस्काराधान का समाधान कर आये हैं। रह गई परिशेष न्याय की बात उसमें हमारा यह कहना है कि आत्मा परमात्मा के स्वरूप निर्णय में, परम प्रमाणभूत श्रुति के अनुकूल जो परिशेष न्याय हो वह मान्य हैं, अन्य त्याज्य हैं, क्योंकि श्रुति के प्रतिकूल युक्ति रूप होने से तादृश परिशेष न्याय मान्य नहीं हो सकता।

जो दो पक्ष युक्ति से विचार करने पर समान दोष तथा परिहार वाले हों भी परन्तु एक श्रुति प्रतिपादित हों तो पुनः उनमें समानता न रहेगी, क्योंकि आत्मपरमात्मादि के स्वरूप निर्णय में लेखक भी शास्त्र को ही परम प्रमाण मानते हैं, श्रुति को परम प्रमाण मानते हैं इसका तो कहना ही क्या। अतः न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग पाशुपत एवं वैष्णव दर्शनों से भिन्न त्रयीदर्शन (मीमांसादर्शन) ही श्रुति सिद्ध अर्थों का निर्णायक होने से सर्वोत्तम दर्शन हैं।

वेदान्त दर्शन के सर्वोत्तम मानने में लेखक ने आत्मवाद पृष्ठ १२६ पर यह आपत्ति दी है "यदि एक वेदान्त दर्शन ही परम सत्य दर्शन है तो तत्तत् देशकाल परिवार में उत्पन्न होने के कारण तथा जन्मान्तरीय संस्कारों की विचित्रता के कारण वेदान्त दर्शन से भिन्न दर्शनों के अनुसार साधना करने वाले सच्चे विरक्त जिज्ञासुओं को क्या भ्रान्ति में ही पड़ा रहना होगा? तथा सरल पर प्रदर्शित मार्ग-अनुगामी उक्त जिज्ञासुओं के

अतिरिक्त तत्तद्दर्शनों के प्रौढ़ विद्वानों ने सर्व दर्शनों का सम्यक् अध्ययन-मनन-परिशीलन करके भी स्वस्व दर्शन शास्त्र में आग्रह तथा परम सत्य वेदान्त दर्शन का परित्याग तथा खण्डन क्यों किया ? तथा स्वसमन्वय से संतोष इन शब्दों में व्यक्त किया है कि "इस समन्वय दृष्टि के उदय हो जाने पर मेरा महान असंतोष समाप्त हो जाने के कारण महान संतोष प्राप्त हुआ है"। महान् असंतोष का कारण उक्त शंका को ही बताया है।

इस पर हमारा वक्तव्य है कि मनुष्यों को बुभुक्षा जन्य असंतोष होता है उस असंतोष को कुछ लोग शास्त्रीय खाद्य पदार्थों का सेवन कर निवृत्त करके सन्तुष्ट होते हैं कुछ अपने मनमाने अखाद्य पदार्थों के सेवन से असंतोष निवृत्त कर संतुष्ट होते हैं। प्रथम मार्ग शास्त्र प्रामाणिकों का है। द्वितीय मार्ग शास्त्र का परित्याग कर अपने मनमाने मार्ग पर चलने वालों का है।

इसी प्रकार वेदान्त दर्शन को सदाशिव की प्राप्ति का साक्षात् साधन होने से सर्वोत्तम दर्शन मानकर, वेदान्त दर्शन का अधिकारी बनने के लिए चित्त शुद्धि के साधन कर्म का प्रतिपादन कर मीमांसा दर्शन, त्वंपदार्थ विवेक मनन निदिध्यासन पूर्वक विचार से ही वेदान्त दर्शन जन्य ज्ञान अविद्या को निवृत्त कर मोक्ष का साधन है। ऐसी विद्वद् प्रसिद्धि होने से वेदान्त के अधिकारी मेंमनन की सामर्थ्य सम्पादन कर न्याय वैशेषिक दर्शन वेदान्त दर्शन का महावाक्य द्वारा प्रतिपाद्य वाक्यार्थ भूत जीव ब्रह्मैक्यता ज्ञान में उपयोगी त्वं पदार्थ की प्रकृति से विवेक द्वारा असंगता सिद्ध कर सांख्य दर्शन, वेदान्त जन्याद्वैत ज्ञान में उपयोगी निदिध्यासन के प्रतिपादन द्वारा योग दर्शन, वेदान्त के सहकारी होकर परम्परा से परमात्मा की प्राप्ति के साधन हैं। ऐसा परस्पर दर्शनों का समन्वय मान कर भी जिन लोगों का यह असन्तोष निवृत्त हो गया है कि "वेदान्त दर्शन से भिन्न दर्शनों के अनुसार साधना करने वाले जिज्ञासुओं को क्या भ्रान्ति में ही पड़ा रहना पड़ेगा ? नहीं। क्योंकि वे भी परम्परा से भ्रान्ति के निवारण की साधना में ही प्रवृत्त हैं। ऐसे लोगों का पूर्वोक्त असन्तोष निवारण त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति इस श्लोक रूप शास्त्र वाक्य तथा अभियुक्तों के अनुसार होने से शास्त्रीय मार्ग है। लेखकोक्त समान रूप से साक्षात्परमात्मारूप मोक्ष में सर्वदर्शनों का समन्वय मानकर पूर्वोक्त

असन्तोष का निवारण उक्त शास्त्र तथा अभियुक्तों से विरुद्ध होने से अशास्त्रीय मनमाना मार्ग है। अत: जिज्ञासुओं को सदा हेय है।

द्वितीयापत्ति "कि सर्वदर्शन कर्त्ता ऋषि सर्वज्ञ हैं तो उन्होंने परस्पर खण्डन क्यों किया ? इसका निवारण इसलिये सुलभ है कि तत्तदर्शनों में निष्ठा कराने के लिए ही दर्शनकारों ने ऐसा किया है भ्रान्ति या आग्रह से नहीं।

जिस प्रकार पामर पुरुष शास्त्र विहित विषय लाभ से असन्तुष्ट हो शास्त्र प्रतिषिद्ध परदार द्रव्य भोग से अपने को सन्तुष्ट मान लेते हैं। विषय भोग को हेय तथा मुक्ति को ही जीवन का परम लाभ प्रतिपादक शास्त्रों से असन्तुष्ट साधु शान्ति नाथादिक, सर्वदर्शनों का नितान्त निराकरण कर ऐहिक विषयों को ही जीवन का लाभ मानकर अपने को सन्तुष्ट मान लेते हैं। तथा द्वेष वशात् शत्रु से असन्तुष्ट मनुष्य पुरुष हनन से अपने को संतुष्ट मान लेते हैं ठीक उसी प्रकार लेखक ने भी स्वमान्य सर्वदर्शन समन्वय से भले ही अपने असन्तोष की निवृत्ति मान ली हो किन्तु शास्त्र विरुद्ध तथा अभियुक्त अनभिमत होने से प्रामाणिक जिज्ञासुओं को लेखकोक्त समन्वय सर्वथा अमान्य है।

आत्मचिन्ता प्रकरण विचार

आत्मचिन्ता प्रकरण लेखक ने पृष्ठ ३९ से पृष्ठ ५२ तक लिखा है। जिसमें से पृष्ठ ४० से पृष्ठ ४६ पर्यन्त वेदान्त प्रतिपाद्य आत्मा की ज्ञान स्वरूपता का खण्डन ६ पृष्ठों में प्रदर्शित कर शेष पृष्ठों में से ६ पृष्ठों में बोद्ध, जैन, सांख्य तथा योगादि के पक्ष प्रतिपक्ष का प्रदर्शन किया है। एवं ६ पृष्ठों में केवल वेदान्त के सिद्धान्त स्वप्रकाश आत्मवाद खण्डन तथा ६ पृष्ठों में अन्य कई दर्शनों के पक्ष प्रतिपक्ष प्रदर्शन से लेखक का वेदान्त दर्शन से विद्वेष है इस पर हम भले ही प्रकाश नहीं डाल रहे पुनरपि जिज्ञासुओं को ऐसा भ्रम होना स्वाभाविक है कि "वेदान्त का सिद्धान्त ही अत्यन्त युक्तिहीन खण्डनीय अतएव त्याज्य है" इस भ्रम के निवारणार्थ आत्मा की स्वप्रकाशता के निराकरणार्थ प्रदत्त तर्कों पर प्रथम कुछ विचार करते हैं।

वेदान्ती—मैं सुखपूर्वक सोया मुझे कुछ भी पता नहीं चला यह स्मरण सुषुप्ति में से उठने के बाद जाग्रत में होता है। स्मरण अपने जनक संस्कार के बिना नहीं हो सकता। संस्कार स्वजनक ज्ञान के बिना नहीं हो सकता। इस प्रकार जाग्रत कालिक स्मरण से सुषुप्ति में भी ज्ञान सिद्ध हो जाता है। सुषुप्ति में मनके न रहने पर भी ज्ञान विद्यमान रहता है। अतः ज्ञान मनोजन्य नहीं है। तत्पुनः जाग्रत और स्वप्न में मन का सद्भाव रहता है तब ज्ञान उत्पन्न होता है, सुषुप्ति में मन का सद्भाव नहीं होता है इस लिये ज्ञान भी नहीं होता इस अन्वय व्यतिरेक से स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान आत्मा और मन के संयोग से उत्पन्न होता है ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार से सुषुप्ति में मन के बिना भी ज्ञान विद्यमान है। अतः व्यतिरेक व्यभिचार (मन के सुषुप्ति में न रहने पर भी ज्ञान के रहने) से मन के संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा सिद्ध न होने से ज्ञान स्वतः सिद्ध है।

नैयायिक—आपकी यह आपत्ति भी कुछ मूल्य नहीं रखती है। कारण कि स्मरण संस्कार मूलक होता है। जन्य ज्ञान के विनष्ट हो जाने

पर ज्ञाता में ही संस्कार का आधान होता है। यही प्रक्रिया सर्वमान्य है। इस प्रक्रिया के अनुसार सुषुप्ति के अवभासक नित्य ज्ञान स्वरूप साक्षी के ज्ञान का नाश आपके मत में संभव नहीं इसलिये संस्कारों का आधान हो ही नहीं सकता।

नैयायिक के मिष से लेखक ने सुषुप्ति कालिक ज्ञान न होने में यह तर्क उपस्थित किया कि वेदान्ती अभिमत सुषुप्ति के प्रकाशक साक्षी का ज्ञान नित्य है। उसका नाश न होने से संस्कार का जनन संभव नहीं संस्कार संभव न होने से स्मृति भी संभव नहीं, तब स्मृति के बल पर सुषुप्ति में अनुभव (ज्ञान) कैसे संभव हो सकता है? इस पर वेदान्ती का यह कथन अत्यन्त तर्कसंगत है कि सोकर जागे हुए मनुष्य को "मैं सुख से सोया" ऐसा जो सुषुप्ति कालीन आनन्द का ज्ञान है वह यदि स्मृति नहीं तो वह ज्ञान प्रत्यक्ष है या अनुमिति रूप, न तो ऐसा सिद्ध ही किया और न कर ही सकते हैं, लेखक की यह अशक्ति उक्त ज्ञान को स्मृति रूप ही निश्चय करायेगी। स्मृति अनुभव के बिना नहीं होती। अतः सुषुप्ति में अनुभव बलात् मानना पड़ेगा। उभयपक्षीय तर्कों में से वेदान्ती का तर्क प्रबल है क्योंकि उसकी तर्क का अनुमोदन श्रुति करती है।

सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञान घन एवं आनन्दमयो आनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः। यह श्रुति सुषुप्ति में प्राज्ञ नामा जीव को आनन्द भुक् आनन्द का भोगी अर्थात् आनन्द का अनुभव करने वाला बतलाकर सुषुप्ति में आनन्द का अनुभव सिद्ध करती है। जब श्रुति युक्ति और अनुभव से सुषुप्ति में आनन्द की सिद्धि है तथा मन है नहीं तब यह कैसे कहा जा सकता है कि आत्ममनः संयोग जन्य ही ज्ञान होता है। अतः श्रुत्यनुसारिणी वेदान्ति की आपत्ति मूल्यवती होती हुई आप के व्यर्थ तर्कों को निर्मूल्य तथा निर्मूल सिद्ध करती है।

सुषुप्ति में ज्ञान श्रुति सिद्ध है किन्तु मनोजन्य न होने के कारण स्वतः सिद्ध है। ऐसा सिद्ध हो जाने पर इस श्रुति के अनुसार ही शयन कर जागे हुए मनुष्य के मैं सुख से सोया मैंने कुछ नहीं जाना इस स्मरण की व्यवस्था करनी चाहिए। वेदान्ती की श्रुति के अनुसार की हुई व्यवस्था कि अज्ञानावच्छिन्न चेतन अर्थात् प्राज्ञनामा जीव सुषुप्ति का ज्ञाता है। सात्विकाविद्या का परिणाम रूपाविद्यक वृत्यवच्छिन्न चेतन ही सुख, सुषुप्ति तथा अज्ञान तीनों को विषय करने वाला ज्ञान है। उस ज्ञान की

उपाधिभूत अविद्या की वृत्ति जाग्रत् अवस्था में नष्ट होकर संस्कार को प्राज्ञ नामा जीव की उपाधिभूत अविद्या में समुत्पन्न कर देती है। अविद्या जीव की उपाधि है। अतः उपाधिनिष्ठ संस्कार ज्ञाता अविद्यावच्छिन्न प्राज्ञनामा जीव में भी स्थित होने से इस नियम का वेदांती पक्ष में भंग नहीं कि "संस्कार ज्ञाता में ही होते हैं।" अतः साक्षी ज्ञान का नाश संभव न होने से संस्काराधान वेदान्ती के मत में नहीं हो सकता। यह आपत्ति वेदान्ती को नहीं दी जा सकती। क्योंकि साक्षी मात्र तो उसके मत में ज्ञाता नहीं जो प्राज्ञ नामा जीव ज्ञाता है उसमें संस्कार हैं ही।

नैयायिक—आपके इस कथन में कुछ सार नहीं कारण कि अविद्या वृत्ति के नाश से संस्कारों का आधान हो सकता है। यह मान लेने पर भी संस्कारों का आधान साक्षी में ही मानना पड़ेगा, क्योंकि संस्कारों का आधान प्रकाशक में=ज्ञाता में ही होता है। इसे मान लेने पर आत्मा की कूटस्थता ज्ञानरूपता अवश्य भंग हो जायेगी जो आपको कदापि अभिमत नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि सुषुप्ति में अविद्या वृत्ति रहती है, इसमें क्या प्रमाण ? यदि आप कहें कि स्मरण अपने जनक सस्कारों के बिना नहीं हो सकता तथा संस्कारों का आधान वृत्ति ज्ञान के बिना संभव नहीं। यह अन्यथा अनुपपत्ति ही सुषुप्ति में अविद्या वृत्ति के होने में प्रमाण है। तो यह कहना भी ठीक नहीं। कारण यह है कि इसमें अन्योन्याश्रय दोष आता है। "मैं सुखपूर्वक सोया, मुझे कुछ पता नहीं चला"। यह उत्थानकालीन वृत्ति जब स्मरण रूप सिद्ध हो जाए तब स्मरण के जनक संस्कार और संस्कारों की जनक अविद्या वृत्ति सुषुप्ति में सिद्ध होगी, उस अविद्या वृत्ति की सिद्धि हो जाने पर अविद्या वृत्ति जन्य संस्कार तथा संस्कार जन्य स्मृति की सिद्धि होगी।

वेदान्ती—नैयायिक के रूप में लेखक का "अविद्या वृत्ति के नाश से संस्काराधान हो सकता है। ऐसा मानने पर भी साक्षी में ही संस्कार मानने पड़ेंगे" इत्यादि कथन वेदान्त की प्रक्रिया की अनभिज्ञता से है जैसा हम पूर्व में कह आए हैं कि अविद्यावच्छिन्न चेतन प्राज्ञ नामा जीव ही अविद्या वृत्ति रूप ज्ञान का आश्रय है। वही ज्ञाता है। उसमें ही अविद्या वृत्ति के संस्कार रहेंगे। उसमें भी जो अविद्या उपाधि है उसमें रहेंगे। क्योंकि उपादान कारण में ही संस्काराधान होता है। अतः अविद्या वृत्ति को मानकर उसके संस्काराधान की बात साक्षी में कहना, स्वयं वेदान्त के ग्रंथों के विचार के बिना साधु शांतिनाथ के कुसंस्कारों से ही है। वहां का ज्ञाता तो प्राज्ञ नामा

जीव है। साक्षी मात्र तो ज्ञाता है नहीं और न उसका कार्य ही अविद्या की वृत्ति है। अतः अविद्या वृत्ति से साक्षी में संस्कारों के आधान की कथा अर्थशून्य है। अतएव साक्षी की कूटस्थता के भंग की आपत्ति कथमपि संभव नहीं।

पुनः अविद्या वृत्ति आदि के मानने में जो अन्योन्याश्रय दोष दिया है वह भी अर्थापत्ति के स्वरूप की अनभिज्ञता के कारण ही दिया है। क्योंकि लेखक ने उक्त ज्ञान को न तो अनुभव रूप सिद्ध किया और न सिद्ध कर ही सकते हैं। अतः अर्थापत्ति का स्वरूप इस प्रकार निष्पन्न होगा। मैं सुख पूर्वक सोया मुझे कुछ भी ज्ञान न रहा। अनुभव से भिन्न इस जाग्रत कालीन ज्ञान में ज्ञानत्व अन्यथा अनुपपन्न होता हुआ स्मृतित्व की कल्पना (निश्चय) कराता है। क्योंकि जो ज्ञान अनुभव रूप नहीं होता वह स्मृति रूप ही होता है। जब स्मृति से भिन्न ज्ञान ही अनुभव होता है तब जो ज्ञान अनुभव रूप सिद्ध नहीं होता तो उससे भिन्न पूर्वोक्त ज्ञान स्मृति रूप बलात् सिद्ध हो जाता है। अतः "मैं सुख से सोया था, मैंने कुछ नहीं जाना था" इसके स्मृति होने में अर्थापत्ति प्रमाण है। इस अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध स्मृति से इसका कारणभूत अनित्य अविद्या की वृत्ति आत्मक ज्ञान सिद्ध होने में तो अन्योन्याश्रय की तो क्या कथा उसकी छाया भी नहीं दिखाई देती।

उपरोक्त ज्ञान स्मृति है इसमें भागवत् का श्लोक भी प्रमाण है—

सन्ने इन्द्रिय गणे अहमिच प्रसुप्ते,
कूटस्थ आशयमृते तदनुस्मृतिर्नः।

भा० स्क० ११ अ० ३ श्लोक ३९

यत् = क्योंकि सुषुप्त्यवस्था में, इन्द्रियगणे सन्ने = इन्द्रियों के समुदाय के लीन हो जाने पर च = तथा अहमि प्रसुप्ते = अहंकार के भी विलय हो जाने पर आशयं ऋते = आशय कहिये अन्तःकरण रहित कूटस्थः = निर्विकार आत्मा ही रहता है। वहां आत्मा का अभाव नहीं क्योंकि सुषुप्ति में विद्यमान् तत = तिस आत्मा का अनुः सुषुप्ति अवस्था के पश्चात् जाग्रत् काल में स्मृतिः = सुखपूर्वक सोया था, मुझे कुछ ज्ञान नहीं रहा था ऐसा स्मरण होता है।

भागवत रूप इस शब्द प्रमाण से भी उपरोक्त ज्ञान की स्मरण

रूपता सिद्ध हो जाने से इस स्मृति का कारणभूत अविद्या की वृत्यात्मक अनुभव भी सिद्ध हो जाता है। अतः उपरोक्त स्मरणात्मक ज्ञान अन्यथा अनुपपन्न होता हुआ अपने कारणभूत जन्य ज्ञान की सुषुप्ति में कल्पना (निश्चय) कराता है। वह जन्य ज्ञान अविद्या की वृत्यात्मक ही संभव है क्योंकि आत्मा कूटस्थ है अन्तःकरण का अभाव है। अतः अन्योन्याश्रय दोष पर पाद प्रहार करता हुआ यह पूर्वोक्त अर्थापत्ति तथा शब्द प्रमाण सुषुप्ति में अविद्यावृत्ति को निर्विघ्न रूप से सिद्ध कर रहा है। अतएव अविद्यावृत्ति को निष्प्रमाण कहने तथा समझने वाले महापुरुष ही निष्प्रमाण हैं।

आनन्द भुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः।

माण्डूक्य उ० ५

अर्थ—आनन्द का भोगी अर्थात् सुख साक्षात्कार वाला चेतोमुख प्राज्ञ ही तृतीय पाद है।

सुषुप्ति काले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति।

कैवल्योपनिषत्

अर्थ—सुषुप्ति के समय सर्व ज्ञानों के साधन के विलीन होने पर अज्ञान से आवृत्त जीव अपने सुखस्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

त्रिषुधामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्।

तेभ्योविलक्षण. साक्षी चिन्मात्रोहं सदा शिवः॥

कैवल्योपनिषत्

अर्थ—जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में जो भोक्ता, भोग्य पदार्थ तथा भोग होते हैं उन सर्व से विलक्षण जो साक्षी चिन्मात्र है सो मैं सदाशिव हूं। इन तीनों श्रुतियों में से प्रथम श्रुति सुषुप्ति काल में आनंद का प्रत्यक्षानुभव कथन कर रही है। द्वितीय श्रुति सुषुप्ति में जीव को अज्ञान से आवृत कह कर वहां अज्ञान सिद्ध कर रही है। तृतीय श्रुति अविद्या में प्रतिबिम्बित आनन्दरूप भोग्य तथा उस आनन्द का साक्षात्कार (प्रत्यक्षानुभव) रूप भोग और उस साक्षात्कार रूप भोग का आश्रय रूप जो प्राज्ञ है इन तीनों से भिन्न साक्षी को सिद्ध कर रही है। इन तीनों श्रुतियों के विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि भोग रूप आनन्द का जो अनुभव है वह साक्षी रूप नहीं। क्योंकि साक्षी को भोग से भिन्न कहा

है। भोग रूप अनुभव का आश्रयभूत भोक्ता भी साक्षी नहीं क्योंकि उस को (साक्षी को) भोक्ता से भिन्न श्रुति ने कहा है। अतः सुषुप्ति में आनन्द का अनुभव रूप भोग साक्षी से विलक्षण होने से अनित्य ही है। यदि अनित्य है तो वह किसका कार्य है ऐसी आकांक्षा होने पर यह ही उत्तर उचित है कि सदाशिव रूप साक्षी तो कूटस्थ है बुद्धि का विलय होने से अभाव है। अतः श्रुति के अनुसार विद्यमान परिणामी अज्ञान का ही कार्य अविद्या वृत्ति रूप ही आनन्द का अनुभव है।

इन श्रुति प्रमाण से अविद्यावृत्ति के सुषुप्ति में सिद्ध हो जाने पर वृत्ति नाश से संस्कार होकर स्मृति का होना संभव है ही। उस अविद्या वृत्ति के नाश से साक्षी में संस्काराधान कहना तथा उन संस्कारों से साक्षी विकारी कहना, साधु शांतिनाथ तथा उनके अनुयायियों का इसलिये हो हुआ कि उन्होंने वेदान्त ग्रन्थों का गुरु द्वारा श्रवण तथा मनन नहीं किया। यह बात हम पूर्व ही कह चुके हैं कि वस्तु के नाश से संस्कार उपादान कारण में ही होते हैं। अविद्यावृत्ति के उपादान अविद्या में ही संस्काराधान होगा न कि साक्षी में।

उपादान से अतिरिक्त उपादान के सम्बन्धी में संस्कार मानने पर तो स्थिर परिणामी आत्मवादि नैयायिक के मत में भी ज्ञान गुण के उपादान भूत आत्मा से अतिरिक्त आत्मा के सम्बन्धी मन में ही संस्काराधान की आपत्ति होगी जो कि उनको कथमपि संभव नहीं। यदि कहा जाए कि संस्कार ज्ञाता में होते हैं। नैयायिक पक्ष में ज्ञाता आत्मा है। अतः उसमें ही संस्कार रहेंगे। मन में नहीं तो वेदान्त पक्ष में भी उपरोक्त श्रुतियों के अनुसार भोक्ता या ज्ञाताप्राज्ञ नामा जीव है।

यदि कहा जाए कि प्राज्ञ नामा जीव ज्ञाता है तो वही स्मर्ता हो सकता है। यदि ज्ञाता तथा स्मर्ता भिन्न माने जायेंगे तो जिस घट का देवदत्त ने ही ग्रहण किया है उसी घट की स्मृति यज्ञदत्त को भी होनी चाहिए। यह आपत्ति वेदान्त पक्ष में इसलिए नहीं आ सकती कि प्राज्ञ नामा जीव जो कि आनन्द का ज्ञाता है उसका विश्वनामा जीव से तादात्म्य होता है क्योंकि प्राज्ञ ही विश्वरूप होता है। देवदत्त तथा यज्ञदत्त की तरह अत्यन्त भेद नहीं है।

अतः पूर्वोक्त विवेचन से साक्षी में संस्कारों की आपत्ति की गन्ध भी न होने से तथा अर्थापत्ति एवं श्रीमद्भागवत रूप शब्द प्रमाण से, सुखमहं

स्वाप्सुं न किंचिदवेदिषं इस ज्ञान को स्मृति सिद्ध हो जाने से तथा उक्त श्रुतियों के पर्यालोचन से, सुषुप्ति में अविद्या वृत्ति सिद्ध हो जाने से, अन्योन्याश्रय दोष का कहीं पता भी न रहने से, नैयायिकों के मिष से, साधु शांतिनाथ या उनके अनुयायियों का वेदान्ती के कथन को निःसार कहना ही निःसार है।

पूर्वोक्त प्रकार से जब संस्काराधान की समस्या का समाधान वेदान्ती के पक्ष में हो जाता है तब सुषुप्ति में स्वतः सिद्ध नित्य ज्ञान सिद्ध हो जाता है। यद्यपि अविद्या की वृत्ति अनित्य है, अविद्या वृत्ति से अवच्छिन्न चेतन ज्ञान शब्द का वाच्य है। अविद्या वृत्ति के अनित्य होने से तदवच्छिन्न ज्ञान भी अनित्य है। परन्तु स्वरूपतः ज्ञान नित्य है। वह सुषुप्ति में विद्यमान है यह भाव है। तब वेदान्ती की ओर से पृष्ठ ४२ पर यह कहलवाना कि इस प्रक्रिया से ज्ञान की नित्यता सिद्ध करने में संस्कारों का आधान कहाँ होगा? यह प्रश्न ही नहीं उठ सकेगा। पुनः नैयायिक की ओर से खण्डन मण्डन करना पृष्ठ ४६ तक की कथा व्यर्थ है। तथापि अक्षरशः नहीं कुछ शंकाओं को लेकर समाधान करेंगे।

नैयायिक—दीप प्रकाश के सम्मुख क्रमशः घट पट आदि पदार्थों के आने पर 'घट प्रकाश पट प्रकाश' ऐसा कहा जाता है। जैसे यहाँ पर प्रकाश की अनुगतता प्रतीत होने पर भी वह अनुगतता प्रकाशत्व जाति के कारण ही है, प्रकाश की एकता या नित्यता के कारण नहीं। वैसे ही घट ज्ञान पट ज्ञान में ज्ञान की अनुगतता ज्ञानत्व जाति के कारण है। ज्ञान की एकता या नित्यता के कारण नहीं''।

उपरोक्त स्थल में जो घट प्रकाशः पट प्रकाशः इस अनुगत प्रतीति को प्रकाश की एकता के कारण नहीं माना यह उचित नहीं क्योंकि घट पट के न रहने पर भी यहाँ दीप प्रकाश है ऐसा बोध होता है। अतः घट मठ के होने पर घटाकाश मठाकाश ऐसी आकाश अंश में जो अनुगत प्रतीति होती है वह आकाश की एकता के कारण है। क्योंकि घटमठ के न रहने पर भी आकाश है ऐसी प्रतीति होती ही है। ऐसे ही घट प्रकाश पट प्रकाश यह भी अनुगत प्रतीति प्रकाश की एकता के कारण ही है जाति के कारण नहीं। और भी कोई शंका इसलिए की जाए कि ज्ञान घटादि पदार्थों में अनुगत नहीं। वह सर्व शंका "सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म" इस आत्म स्वरूप ब्रह्म से अभिन्न ज्ञान को अनन्त अर्थात् तीनों परिच्छेदों से रहित बताने वाली श्रुति

से समाप्त हो जाती है। अतः जैसे आकाश के एक सर्वगत होने से ही घठाकाशः मठाकाशः यह अनुगत प्रतीति मानी जाती है। उसी प्रकार एक तथा सर्वगत ज्ञान होने से ही घट ज्ञान,पट ज्ञानं ज्ञांनाश में यह अनुगत प्रतीति होती है न कि ज्ञानत्व जाति के कारण।

वादी की ओर से आगे यह कहा गया है कि घट ज्ञान पट ज्ञान इस प्रकार की प्रतीति यदि ज्ञान की एकता तथा नित्यता में कारण मानी जायेगी तो घटेच्छा पटेच्छा इत्यादि प्रतीतियों से इच्छादिक भी एक तथा नित्य सिद्ध होने लगेगी। अतः जब तक किसी स्वतन्त्र प्रमाण से ज्ञान की नित्यता तथा एकता सिद्ध न कर दी जाए तब तक ज्ञान की उक्त अनुगत प्रतीति के बल से ज्ञान की नित्यता तथा एकता सिद्ध नहीं की जा सकती।

यह भी कहना उचित नहीं क्योंकि सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म यह श्रुति ज्ञान को सत्य तथा अनन्त और एक कह रही है। "सत्यं ज्ञान मनन्तं यत्परं ब्रह्माहमेवतत्" यह वाराह श्रुति ब्रह्माभिन्नात्मस्वरूप ज्ञान को सत्य तथा अनन्त कह रही है। "नित्योऽस्मि विमलोऽस्म्यहम् विज्ञानोऽस्मि" यह मैत्रेय्युपनिषद् श्रुति विज्ञान को ही नित्य आत्मस्वरूप कह रही है। इस प्रकार श्रुति-भूत सर्वोपरि स्वतन्त्र प्रमाण से आत्मभूत ज्ञान की एकता नित्यता, अनन्तता सिद्ध हो जाने पर किसी प्रकार ज्ञान को आत्मा से भिन्न अनेक या परिच्छिन्न नहीं कहा जा सकता है।

यद्यपि घटेच्छा पटेच्छा इस प्रतीति से घटादि में इच्छा को कथंचित् अनुगत कहा भी जाए किन्तु इच्छा सुषुप्ति में न रहने से नित्य नहीं कही जा सकती है। ज्ञान की सिद्धि सुषुप्ति में कर ही आए हैं।

पूर्वोक्त प्रकार से संस्काराधान अविद्या तथा अन्तकरण में उपपादन कर श्रुति रूप स्वतन्त्र प्रमाण से ज्ञान की नित्यता, एकता, अपरिच्छिन्नता सिद्ध कर देने पर, "वृत्तियों के भावाभाव या अज्ञान के प्रकाशक नित्य ज्ञान में संस्काराधान दोष से बचाव नहीं हो सकता" इत्यादि आपत्तियों के लिए कोई अवकाश नहीं। अन्त में पृष्ठ ४६ पर वृत्ति सामान्याभाव के अनुभव तथा स्मरण की संगति किसी प्रकार न हो सकेगी। यह कहना भी संगत नहीं क्योंकि वे वृत्ति सामान्याभाव का असंभव सिद्ध कर रहे हैं। वृत्ति सामान्य जब वादी के मत में संभव ही नहीं तब वृत्ति सामान्याभाव को लेकर आपत्ति देना भी संभव नही है। श्रुति प्रमाण से ज्ञान के नित्य सिद्ध हो जाने से वादी का यह अन्तिम कथन कि "नित्य ज्ञान के सिद्ध न होने के कारण परिशेषतः ज्ञान को अनित्य ही मानना चाहिए" अत्यन्त अनुचित है।

आत्म चित्ता समन्वय विचार

आत्म चित्ता प्रकरण विचार में लेखक ने आत्मा की नित्य ज्ञान स्व-रूपता की सिद्धि में जो आपत्तियां दी थीं उनका समाधान प्रस्तुत कर अब आत्मचित्ता समन्वय पर विचार करते हैं। लेखक को आत्म चित्ता पर विचार करने पर तीन तथ्य उपलब्ध हुए हैं। उन तीनों तथ्यों को अक्षरशः उद्धृत करते हैं। प्रथम तथ्य—अनात्म विषय अवभासक स्पष्ट वृत्ति रूप सविशेष ज्ञान मन इन्द्रिय सहयोगी सामग्री होने पर ही होते हैं और इस सहयोगी सामग्री के न होने पर वे ज्ञान नहीं होते"।

इस प्रथम तथ्य का फल इस प्रकार लिखा है "प्रथम तथ्य के अनुसार जिन दार्शनिकों ने आत्मा को ज्ञान रूप या नित्य ज्ञान गुण युक्त स्वीकार किया है। उन्होंने मन इन्द्रिय आदि सामग्री को विशेष ज्ञान का अभिव्यंजक माना है। जिन दार्शनिकों ने आत्मा को ज्ञानरूप नहीं माना उन्होंने मन इन्द्रिय सामग्री को विशेष ज्ञान का जनक माना है। यही दोनों में अन्तर है।

विवेचन—उपरोक्त लेख से समन्वयदर्शी महानुभाव ने नित्य ज्ञान-स्वरूप या नित्य ज्ञान गुण युक्त आत्मवादी दार्शनिकों तथा ज्ञानस्वरूप या नित्य ज्ञान गुण आत्मा से विलक्षण आत्मवादी दर्शनों में अन्तर देख लिया तो पाठकगण स्वयं विचार करें कि समन्वय दर्शी महानुभाव को भी यदि दर्शनों के प्रतिपाद्य में अन्तर दिखाई दे गया तो वस्तुतः उनके प्रतिपाद्यों में कितना अन्तर है, यह तो तभी सम्यग् ज्ञात हो सकता है जब तथाकथित समन्वय के मोह का परित्याग कर निष्पक्ष दृष्टि से अक्षरार्थ गुरुजनों के द्वारा समझ कर उनका स्वाध्याय किया जाय।

पुनरपि दर्शनों के निर्माता सर्वज्ञ ऋषियों की यह विशेषता है कि दर्शनों के प्रतिपाद्य में भेद होने पर भी तत्तद्दर्शन के स्वाध्याय तथा उसमें प्रीति करने वाले तदनुसार साधकों को साक्षात् अथवा परम्परा से किसी एक लक्ष्य की ओर ही ले जा रहे हैं।

द्वितीय तथ्य—"आत्मा चाहे ज्ञानरूप हो, चाहे नित्य ज्ञान गुण युक्त हो या अनित्य ज्ञान गुण युक्त हो अथवा उभयात्मक हो सभी पक्षों में केवल आत्मा से अनात्म वस्तुओं का स्पष्ट अवभास नहीं होता।

द्वितीय तथ्य का निष्कर्ष—द्वितीय तथ्य के अनुसार जब केवल आत्मा से किसी अनात्म वस्तु का स्पष्ट प्रकाश होता ही नहीं तब उसे ज्ञान रूप क्यों माना जाए" इत्यादि द्वितीय तथ्य का निष्कर्ष निकाला है।

विवेचन—अयं घट:यह ज्ञान इन्द्रियादि सामग्री से जन्य है। किन्तु इस ज्ञान इसके विषय तथा ज्ञाता अहमर्थ इन तीनों का प्रकाशक इस ज्ञान से अन्य "घटमहं जानामि" यह भी एक ज्ञान है। यह ज्ञान जन्य नहीं है। यदि कादाचित्कज्ञान का ज्ञान भी जन्य माना जाएगा तो जैसे घट का ज्ञान कादाचित्क है तो घट विषयक अज्ञान संशयादिक होते हैं। वैसे ही घट ज्ञान होने पर भी, घट ज्ञान मुझे ज्ञात नहीं इस प्रकार का घट ज्ञान विषयक अज्ञान तथा घट ज्ञान है या नहीं इस प्रकार का संशय या घट ज्ञान नहीं है ऐसा विपर्यय होने लगेगा। किन्तु घट ज्ञान विषयक अज्ञान संशय तथा विपर्यय नहीं होते अतः यह सिद्ध हो जाता है कि वह किसी ऐसे ज्ञान से प्रकाशित है जो उस के पूर्व से ही विद्यमान है।

वह पूर्व विद्यमान घट ज्ञान का ज्ञान अपरोक्ष होने से अपने विषय भूत ज्ञान से जन्य नहीं हो सकता। क्योंकि पूर्व विद्यमान उत्तर उत्पन्न से उत्पन्न नहीं हो सकता। न समकाल ही उत्पन्न हो सकता है। क्योंकि कारण कार्य से पूर्व चाहिए। अतः उत्पत्ति सिद्ध न होने से वह ज्ञान स्वतः सिद्ध है। न उसका विनाश ही होता है। जैसा कि श्रुति कह रही है कि "नहि द्रष्टु र्द्रष्टेर्विपरि लोपो विद्यते"। द्रष्टा की स्वरूप भूत द्रष्टि (ज्ञान) का कभी नाश नहीं होता। अतः उत्पत्ति विनाश से रहित ज्ञान स्वरूप द्रष्टा है यही सिद्ध होता है।

भाव यह है कि यदि आत्मा को ज्ञान स्वरूप न माना जाएगा तो घटमहं जानामि यह त्रिपुटी का प्रकाश कथमपि संभव न होने से आत्मा को ज्ञान स्वरूप मानना ही चाहिए। अतः आत्मा ज्ञान स्वरूप क्यों माना जाय। यह आपत्ति वेदान्त प्रक्रियाऽनभिज्ञता के ही कारण है। अन्यथा त्रिपुटी के प्रकाश की अनुपपत्ति का समाधान कर ही आपत्ति देना बन सकता था।

आत्मा में ज्ञान प्रागभाव की अधिकरणता या ज्ञानात्यन्ताभाव की अनाधिकरणता से कथंचित् जड़ शब्द की वाच्यता का अभाव सिद्ध कर देने पर भी या आत्म शब्द से ही पाषाणादि से व्यावृत्त कर आत्मा की प्रतीति सिद्ध कर देने पर भी स्वतः सिद्ध ज्ञान स्वरूप आत्मा न मानने पर त्रिपुटी का प्रकाश कथमपि संभव नहीं। अतः आत्मा को ज्ञान स्वरूप मानने से ही त्रिपुटी के प्रकाश का संभव तथा आत्मा को ज्ञान स्वरूप न मानने पर "घट मह् जानामि" इस त्रिपुटी के प्रकाशक का असभव होने से आत्मा को ज्ञानस्वरूप मानना या न मानना, आपतत: परस्पर विरुद्ध प्रतीति का विषय नहीं अपितु वस्तुतः परस्पर विरुद्ध है। अत: दर्शनों का अक्षरार्थ, ज्ञानपूर्वक थोड़ी भी सूक्ष्म दृष्टि से मनन किया जाय तो जैसा लेखक को अप्रामाणिक समन्वय दृष्ट हुआ है वह कभी भी नहीं दिखाई दे सकता।

इसके अतिरिक्त द्वितीय निष्कर्ष में और जो कुछ लिख रहा है उस सब का उत्तर हमारे उपरोक्त विवेचन में ही विद्यमान है। अतः और कुछ न लिख कर लेखक ने जो यह लिखा है कि "शास्त्रों का प्रामाण्य मुझे सर्वोपरि मान्य है, यद्यपि वेदान्त संस्कार ही विशेष रूप में जाग्रत रहते हैं। तो भी वेदान्त सम्मत ज्ञानरूप आत्मा मानने वालों के साथ ज्ञानरूप आत्मा न मानने वालों का ऊपर कहा समन्वय वेदान्त के सिद्धान्त से मुझे किंचित् भी विरुद्ध प्रतीत नहीं होता। कारण कि प्रश्नोपनिषद् के भाष्य में श्री शंकराचार्य जी ने भी ज्ञानरूपता=स्वयं ज्योतिष्ट्वादि व्यवहार को विमोक्ष पर्यन्त अविद्या विषयक मन आदि उपाधियों से जनित ही स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। तथाहि स्वयं ज्योतिष्ट्वादि व्यवहारोपि आविमोक्षान्तः सर्वोऽविद्याविषय एवं मन आदि उपाधि जनितः। इसी प्रकार वृहदारण्यकोपनिषद् के भाष्य में भी आचार्य श्री ने कहा है "अध्यारोपितनामरूपकर्म द्वारेण ब्रह्म निर्दिश्यते विज्ञान मानन्दं ब्रह्म विज्ञान धन एव ब्रह्मात्मा इत्येवमादिशब्दैः। यदापुनः स्वरूपमेव निर्दिदिक्षितं भवति निरस्त सर्वोपाधि विशेषं तदानकेन चिदपि प्रकारेण निर्देष्टुं शक्यते। तदा अयमेवोपायो यत्प्राप्त निर्देश प्रतिषेधद्वारेण नेति नेति।

वृ० २-३-६

अर्थात् विज्ञान आनन्द रूप ब्रह्म है, विज्ञान धन रूप ब्रह्म है, आत्म रूप ब्रह्म है, इत्यादि शब्दों से जो ब्रह्म का निरूपण किया गया है। वह सभी नाम रूप कर्म का अध्यारोप करके ही कहा है। जब सर्व उपाधियों से रहित निर्विशेष स्वरूप मात्र का निर्देश करना होता है तब उसका किसी

भी प्रकार से निर्देश नहीं कर सकते। निर्विशेष रूप के निर्देश का एक मात्र यही उपाय है, जो निर्देश दिये गये हैं उनका भी नेति नेति के द्वारा निषेध कर दिया जाय। यहां भाष्य में स्पष्ट उल्लेख कर दिया है कि आत्मा को जो विज्ञान धन कहा गया है वह नाम रूप का आरोप करके ही कहा है। केनउपनिषद् में भी सोपाधिक आत्मा में ही स्वसंवेद्यता मानी हैं। निरुपाधिक आत्मा में तो स्वसवेद्यता भी नहीं मानी। तथाहि "यत्पुनः स्व-संवेद्यता तत्र भवति सोपाधिकत्वे-नतु निरुपाधिकस्यात्मनः एकत्वे स्व-संवेद्यता परसंवेद्यता वा संभवति। (२-४ पदभाष्य)॥ उक्त भाष्यों के पर्या-लोचन से स्पष्ट हो जाता है कि शांकर वेदांत का तात्पर्य भी मन आदि उपाधि युक्त आत्मा को ही स्वयं ज्योति, स्वसंवेद्य, ज्ञान रूप मानने में है। निरुपाधिक आत्मा को नहीं। अतः निर्विरोध समन्वय हो सकता है।" इस पर विवेचन करते हैं।

विवेचन—लेखक उपरोक्त प्रघट्टक में अपने को शास्त्र प्रमाण मानने वाला कहते हैं परन्तु आत्माके स्वरूप निर्णय में कहीं भी शास्त्र प्रमाणावलम्बन नहीं लिया अतः उक्त कथन, माता मे बन्ध्या, इस वाक्य के समान है। ज्ञान रूप आत्मा तथा ज्ञानरूप आत्मा नहीं, इन दोनों पक्षों का निर्विरोध समन्वय शांकर भाष्य से भी सिद्ध करने का असफल प्रयास किया है। प्रथम तो भाष्यार्थ पर विवेचनपूर्वक दोनों पक्षों में समन्वय न दिखाने से यह भाव सुस्पष्ट हो जाता है कि भाष्य की पंक्तियों का अर्थ समझे बिना केवल साधु शांतिनाथ के प्राच्य दर्शन मीमांसादि ग्रन्थों तथा उनके विचारों को ही बहुत कुछ अवलम्बन लेकर जो भाव लेखक के मन में आ जाते हैं उन्हें भाष्य के कुछ शब्दों में समानता देखकर भाष्य पर आरोपित कर देते हैं। अतः उनका यह लेख सर्वथा मिथ्या है कि मेरे "वेदान्त संस्कार ही विशेष रूप में जाग्रत रहते हैं" प्रत्युत महानास्तिक साधु शांतिनाथ के ग्रन्थों के सस्कार ही विशेष रूप से जाग्रत रहते हैं। साधु शांतिनाथ के ग्रंथों को पढ़कर यदि कोई व्यक्ति लेखक के निष्प्रयोजन निष्प्रमाण सर्वदर्शन समन्वय" को पढ़े तो पता चलेगा कि इस ग्रन्थ में बहुत कुछ साधु शांतिनाथ के ही विचार बैठे हैं। साधु शांति नाथ अपने पाण्डित्य तथा साधना का अपने ग्रन्थों में परिचय देते हैं तो उससे उनका अहंकार स्पष्ट झलकता है। अतएव उनको वेदांत दर्शन पढ़ने पर भी यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ क्योंकि भाष्यकार

लिखते हैं कि नत्वभिमानेन वर्षशतेनापि श्रुत्यर्थों ज्ञातुं शक्यते सर्वैः पण्डितं मन्यैः। अपने को पण्डित मानने वाले पुरुषों के द्वारा अभिमान से सौ वर्ष में भी श्रुति का यथाभूतार्थ नहीं जाना जा सकता है।

एवमेव सर्वदर्शन समन्वय के लेखक ने भी इस ग्रंथ की भूमिका के १० तथा ११ वें पृष्ठ पर जो लिखा है, उससे जो अंहकृति व्यक्त हुई है वही उनको भाष्य के यथाभूतार्थ का ज्ञान नहीं होने देती। अतः विपरीत ही भाष्य का अर्थ दूसरों के हृदय में जमाने के लिये वेदान्त के प्रबल संस्कारों की दुहाई देते हैं।

लेखक की पंक्तियों पर जब विचार करते हैं, तो ऐसा समझ में आता है कि प्रमाण में दिये भाष्य का वे यह अर्थ समझ रहे हैं कि उपाधि से युक्त आत्मा को भाष्यकार स्वयं ज्योति ज्ञान रूप कह रहे हैं। लेकिन शुद्ध आत्मा को ज्ञान रूप नहीं कहते अर्थात् ज्ञान से भिन्न ही शुद्ध आत्मा भाष्यकार को अभिमत है। अपनी भाष्य विरुद्ध इस मान्यता में प्र. ४.५ का भाष्य प्रमाण दिया है। यद्यपि उसका अर्थ लेखक ने अवतरणिका के रूप में दिया है तथापि उस पंक्ति के अर्थ सहित उस पर विवेचन करते हैं।

भाष्यार्थ—"मन आदि उपाधि से जनित स्वयं ज्योष्ट्वादि व्यवहार भी अविद्या विषयक तथा मोक्ष पर्यन्त ही स्थायी है"।

लेखकोक्त इस पंक्ति का यह तात्पर्य कि उपाधियों से युक्त ही आत्मा स्वयं ज्योति ज्ञानरूप है। निरूपाधिक शुद्ध आत्मा [illegible] कथमपि संभव नहीं। आत्मा को स्वयं प्रकाश न मानने वाले व्यक्ति के द्वारा इसके स्थान में यदि ऐसा वाक्य कहा जाय कि मैं हूं यह मन आदि उपाधि जनित आत्मास्तित्व व्यवहार सुषुप्ति पर्यन्त ही है सुषुप्ति मैं नहीं। इस वाक्य का यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि मन आदि से युक्त आत्मा अस्तित्ववान् है। उपाधि से रहित शुद्ध केवल आत्मा अस्तित्ववान् नहीं है किन्तु वाक्य का यही भाव है कि सुषुप्ति में आत्मास्तित्व होने पर भी केवल व्यवहार का अभाव है। उसी प्रकार मन आदि उपाधि से जनित स्वयं ज्योतिष्ट्वादि व्यवहार मोक्ष पर्यन्त है। इसका भी यह भाव नहीं कि मोक्ष में आत्मा स्वयं ज्योति नहीं अपितु यही भाव है कि केवल वहाँ व्यवहारका निमित्तभूत जो मन आदि है उनके न होने से स्वयं ज्योति आत्मा है इस प्रकार का शब्दादिरूप

व्यवहार नहीं है। अन्यथा मोक्ष दशा में आत्माऽस्तित्व का व्यवहार न होने से वादी को आत्मास्तित्व से भी हाथ धोने पड़ जायेंगे। अब पाठक स्वयं सोचें कि लेखक का बताया भाष्य का तात्पर्य निरूपाधिक आत्मा को अस्व प्रकाश रूप बतलाने में कैसे माना जा सकता है।

बृ० २।३।६ का जो भाष्य वाक्य दिया है उस से पूर्व की कुछ पंक्तियां उद्धृत कर लेखक द्वारा दिये भाष्य के अर्थ पर विचार करते हैं तो जो लेखक ने अभिप्राय निकाला है वह कथमपि सिद्ध नहीं होता। भाष्य की पूर्व पंक्ति—**यस्मिन् न कश्चिद्वि शेषोऽस्ति नाम वा रूपं वा कर्म वा भेदो वा जातिर्वा गुणो वा तद्द्वारेण शब्द प्रवृतिर्भवति। नैषां कश्चिद् विशेषो ब्रह्मण्यस्ति, अतो न निर्देष्टुं शक्यते इदं तदिति।।** अर्थ—जिसमें नाम, रूप, क्रिया, भेद, जाति अथवा गुण रूप कोई विशेष नहीं है जिसके द्वारा शब्द प्रवृत्ति होती है। इस लिए ही यह वह है, इस प्रकार ब्रह्म किसी शब्द से नहीं कहा जा सकता। विज्ञान आनन्द रूप ब्रह्म है; विज्ञान धन रूप ब्रह्म है इत्यादि शब्दों से जो ब्रह्म का निरुपण किया गया है वह सभी नाम रूप कर्म का अध्यारोप करके ही कहा है। जब सर्व उपाधियों से रहित निर्विशेष स्वरूप मात्र का निर्देश करना होता है तब उसका किसी भी प्रकार से निर्देश नहीं कर सकते। निर्विशेषरूप के निर्देश का एकमात्र यही उपाय है। उस शुद्ध तत्व को बताने के लिए जो निर्देश दिए गये हैं "उनका भी नेति नेति के द्वारा निषेध कर दिया जाए"।

विवेचन—पूर्व की तीन पंक्तियों के सहित लेखक के द्वारा किया भाष्यार्थ ऊपर लिख दिया गया है। उसका निष्कर्ष लेखक ने यह दिया है कि "यहां भाष्य में स्पष्ट उल्लेख कर दिया है कि आत्मा को जो विज्ञानधन कहा गया है, वह नाम रूप आरोप करके ही कहा है" परन्तु लेखक ने यह बात विवेचन पूर्वक नहीं लिखी कि नाम रूप का आरोप कर जो विज्ञानधन कहा है उससे आपका क्या अभिप्राय सिद्ध हुआ? परन्तु इसकी अन्तिम पंक्तियां कि "शांकर वेदांत का तात्पर्य भी मन आदि उपाधि युक्त आत्मा को ही स्वयं ज्योति, स्वसंवेद्य ज्ञानरूप मानने में है निरूपाधिक आत्मा को नहीं" यह बोधन कर रहो हैं कि लेखक उपरोक्त भाष्य का तात्पर्य यह मानते हैं कि भाष्यकार निर्विशेष ब्रह्मात्मा को ज्ञानरूप नहीं मानते हैं। परन्तु उनका यह कथन उचित नहीं यदि भाष्यकार ज्ञानरूप निर्विशेष आत्मा

लिखते हैं कि **नत्वभिमानेन वर्षशतेनापि श्रुत्यर्थों ज्ञातुं शक्यते सर्वैः पण्डितं मन्यैः**। अपने को पण्डित मानने वाले पुरुषों के द्वारा अभिमान से सौ वर्ष में भी श्रुति का यथाभूतार्थ नहीं जाना जा सकता है।

एवमेव सर्वदर्शन समन्वय के लेखक ने भी इस ग्रंथ की भूमिका के १० तथा ११ वें पृष्ठ पर जो लिखा है, उससे जो अंहकृति व्यक्त हुई है वही उनको भाष्य के यथाभूतार्थ का ज्ञान नहीं होने देती। अतः विपरीत ही भाष्य का अर्थ दूसरों के हृदय में जमाने के लिये वेदान्त के प्रबल संस्कारों की दुहाई देते हैं।

लेखक की पंक्तियों पर जब विचार करते हैं, तो ऐसा समझ में आता है कि प्रमाण में दिये भाष्य का वे यह अर्थ समझ रहे हैं कि उपाधि से युक्त आत्मा को भाष्यकार स्वयं ज्योति ज्ञान रूप कह रहे हैं। लेकिन शुद्ध आत्मा को ज्ञान रूप नहीं कहते अर्थात् ज्ञान से भिन्न ही शुद्ध आत्मा भाष्यकार को अभिमत है। अपनी भाष्य विरुद्ध इस मान्यता में प्र. ४.५ का भाष्य प्रमाण दिया है। यद्यपि उसका अर्थ लेखक ने अवतरणिका के रूप में दिया है तथापि उस पंक्ति के अर्थ सहित उस पर विवेचन करते हैं।

भाष्यार्थ—"मन आदि उपाधि से जनित स्वयं ज्योष्ट्वादि व्यवहार भी अविद्या विषयक तथा मोक्ष पर्यन्त ही स्थायी है"।

लेखकोक्त इस पंक्ति का यह तात्पर्य कि उपाधियों से युक्त ही आत्मा स्वयं ज्योति ज्ञानरूप है। निरूपाधिक शुद्ध आत्मा [illegible] कथमपि संभव नहीं। आत्मा को स्वयं प्रकाश न मानने वाले व्यक्ति के द्वारा इसके स्थान में यदि ऐसा वाक्य कहा जाय कि मैं हूँ यह, मन आदि उपाधि जनित आत्मास्तित्व व्यवहार सुषुप्ति पर्यन्त ही है सुषुप्ति मैं नहीं। इस वाक्य का यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि मन आदि से युक्त आत्मा अस्तित्ववान् है। उपाधि से रहित शुद्ध केवल आत्मा अस्तित्ववान् नहीं है किन्तु वाक्य का यही भाव है कि सुषुप्ति में आत्मास्तित्व होने पर भी केवल व्यवहार का अभाव है। उसी प्रकार मन आदि उपाधि से जनित स्वयं ज्योतिष्ट्वादि व्यवहार मोक्ष पर्यन्त है। इसका भी यह भाव नहीं कि मोक्ष में आत्मा स्वयं ज्योति नहीं अपितु यही भाव है कि केवल वहाँ व्यवहारका निमित्तभूत जो मन आदि है उनके न होने से स्वयं ज्योति आत्मा है इस प्रकार का शब्दादिरूप

व्यवहार नहीं है। अन्यथा मोक्ष दशा में आत्माऽस्तित्व का व्यवहार न होने से वादी को आत्मास्तित्व से भी हाथ धोने पड़ जायेंगे। अब पाठक स्वयं सोचें कि लेखक का बताया भाष्य का तात्पर्य निरूपाधिक आत्मा को अस्व प्रकाश रूप बतलाने में कैसे माना जा सकता है।

बृ० २।३।६ का जो भाष्य वाक्य दिया है उस से पूर्व की कुछ पंक्तियां उद्धृत कर लेखक द्वारा दिये भाष्य के अर्थ पर विचार करते हैं तो जो लेखक ने अभिप्राय निकाला है वह कथमपि सिद्ध नहीं होता। भाष्य की पूर्व पंक्ति —**यस्मिन् न कश्चिद्विशेषोऽस्ति नाम वा रूपं वा कर्म वा भेदो वा जातिर्वा गुणो वा तद्द्वारेण शब्द प्रवृत्तिर्भवति। नैषां कश्चिद् विशेषो ब्रह्मण्यस्ति, अतो न निर्देष्टुं शक्यते इदं तदिति।।** अर्थ—जिसमें नाम, रूप, क्रिया, भेद, जाति अथवा गुण रूप कोई विशेष नहीं है जिसके द्वारा शब्द प्रवृत्ति होती है। इस लिए ही यह वह है, इस प्रकार ब्रह्म किसी शब्द से नहीं कहा जा सकता। विज्ञान आनन्द रूप ब्रह्म है; विज्ञान धन रूप ब्रह्म है इत्यादि शब्दों से जो ब्रह्म का निरुपण किया गया है वह सभी नाम रूप कर्म का अध्यारोप करके ही कहा है। जब सर्व उपाधियों से रहित निर्विशेष स्वरूप मात्र का निर्देश करना होता है तब उसका किसी भी प्रकार से निर्देश नहीं कर सकते। निर्विशेषरूप के निर्देश का एकमात्र यही उपाय है। उस शुद्ध तत्व को बताने के लिए जो निर्देश दिए गये हैं "उनका भी नेति नेति के द्वारा निषेध कर दिया जाए"।

विवेचन—पूर्व की तीन पंक्तियों के सहित लेखक के द्वारा किया भाष्यार्थ ऊपर लिख दिया गया है। उसका निष्कर्ष लेखक ने यह दिया है कि "यहां भाष्य में स्पष्ट उल्लेख कर दिया है कि आत्मा को जो विज्ञानधन कहा गया है, वह नाम रूप आरोप करके ही कहा है" परन्तु लेखक ने यह बात विवेचन पूर्वक नहीं लिखी कि नाम रूप का आरोप कर जो विज्ञानधन कहा है उससे आपका क्या अभिप्राय सिद्ध हुआ? परन्तु इसकी अन्तिम पंक्तियां कि "शांकर वेदांत का तात्पर्य भी मन आदि उपाधि युक्त आत्मा को ही स्वयं ज्योति, स्वसंवेद्य ज्ञानरूप मानने में है निरूपाधिक आत्मा को नहीं" यह बोधन कर रहो हैं कि लेखक उपरोक्त भाष्य का तात्पर्य यह मानते हैं कि भाष्यकार निर्विशेष ब्रह्मात्मा को ज्ञानरूप नहीं मानते हैं। परन्तु उनका यह कथन उचित नहीं यदि भाष्यकार ज्ञानरूप निर्विशेष आत्मा

को नहीं मानते तो क्या ज्ञान गुण वाला मानते हैं तो यह कहना भी उचित नहीं क्योंकि ऐसा मानने पर तो वह सविशेष हो जायगा। ऐसा बताना भाष्यकार को इष्ट नहीं। यदि कहा जाए कि भाष्यकार आत्मा को न तो ज्ञान रूप ही मानते हैं और न ज्ञान गुण वाला मानते हैं। किन्तु ज्ञान से भिन्न मानते हैं तो यह कहना भी उचित नहीं क्योंकि पुनरपि निर्विशेष नहीं रहेगा। क्योंकि भाष्यकार ने उपरोक्त पंक्तियों में भेद को भी विशेषान्तर्गत ही कथन किया है। भाव यह है कि जो निर्विशेष ब्रह्म न तो ज्ञान गुण वाला है न ज्ञान से भिन्न है तो हम लेखक महानुभाव से पूछते हैं वह क्या है जिसे वे ज्ञानस्वरूप नहीं मानते। जितने भी जड़ पदार्थ हैं वे सर्व ज्ञान से भिन्न हैं सो ब्रह्म नहीं। उन सर्व जड़ पदार्थों से भिन्न वादी का अभिमत आत्मा ज्ञान गुण वाला है सो भी ब्रह्म नहीं। ऐसे ब्रह्म को पुनः वादी यह कैसे कह सकता है कि वह ज्ञान स्वरूप नहीं ऐसा भाष्यकार मानते हैं। क्योंकि जो जड़ वर्ग तथा ज्ञान गुण वाला नहीं वह तो ज्ञान स्वरूप ही संभव है। अतः जो न जड़ है न ज्ञान गुण वाला है न ज्ञानत्व जाति वाला है उसको भी ज्ञान नहीं, ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि जो ज्ञान नहीं वह ज्ञान से भिन्न सविशेष जड़ वस्तु ही है। निर्विशेष होने से ब्रह्म सविशेष जड़ वस्तु नहीं। जब सविशेष जड वस्तु नहीं तो भाष्यकार का इस कहने में कैसे तात्पर्य माना जा सकता है कि निर्विशेष ब्रह्म ज्ञान स्वरूप नहीं। अतः निर्विशेष वस्तु को लक्षणा द्वारा ज्ञान या विज्ञान शब्द कहते हैं। शक्ति वृत्ति से नहीं यह भाष्य का तात्पर्य है। क्योंकि ज्ञानत्व रूप विशेष धर्म पूर्वक ही ज्ञान पद शक्ति वृत्ति से परमात्मा का बोधक होता है। ज्ञान पद शक्ति वृत्ति से सर्व जड़ पदार्थों से भिन्न परमात्मा का बोधन करता है। भाग त्याग लक्षणा से ज्ञानत्वरूप विशेष के त्याग पूर्वक निर्विशेष तत्व का बोधन करता हैं। भाष्य का विवेचन करने पर निर्विशेष ब्रह्म ज्ञान नहीं या स्वयं प्रकाश नहीं यह कदापि सिद्ध न होने से पाठक ही सोचें कि पुनः लेखकाभिमत ज्ञान स्वरूप मानने वाले वेदांती के साथ ज्ञान स्वरूप न मानने वालों का समन्वय निर्विरोध कैसे सिद्ध हो सकता है।

पुनरपि विवेक चक्षुओं का उपयोग किये बिना आग्रह वशात् लेखक अपने समन्वय को मानते या अपने अनुयायियों में गाते भी रहें। किन्तु शास्त्र को गुरुजनों से पढ़कर उसका तात्पर्य समझने वाले विवेकियों के समाज में तो उस बेचारे सम समन्वय का उसी प्रकार पता नहीं चलेगा जैसे

दिन में रात्रि का। इसी प्रकार लेखक ने केन भाष्य पंक्तियाँ भी लिखी हैं जिनका अर्थ नहीं लिखा अतः पंक्ति तथा उनका अर्थ लिख विवेचन करते हैं—**यत्पुनः स्वसंवेद्यता तत्र भवति सोपाधिकत्वे** इत्यादि पंक्तियां जिनको हम लेखकोक्त प्रघट्टक में लिख आये हैं उनका अर्थ यह है "केन उपनिषद् के द्वितीय खण्ड के चतुर्थ श्रुति में प्रतिबोध—विदितं इस वाक्य का जो लोग स्व संवेद्यता अर्थ करते हैं वह उचित नहीं। क्योंकि ऐसा अर्थ करने पर भी आत्मा को सोपाधिकता ही सिद्ध होगी। क्योंकि बुद्धि आदि से आत्मा का भेद कल्पना करके ही आत्मा अपने आपसे ही अपने को जानता है, यह व्यवहार सिद्ध होता है न कि निरुपाधिक आत्मा में। क्योंकि एकता में अर्थात् बुद्धि आदिकों से भेद कल्पना के बिना आत्मा में स्वसंवेद्यता या पर संवेद्यता संभव नहीं। क्योंकि निरुपाधिक आत्मा को संवेदन रूप होने से संवेदनान्तर की अपेक्षा नहीं।

लेखक ने केन भाष्य की पंक्ति लिखते समय जो मध्य में बिन्दु दिये हैं उस स्थान में भी जो पंक्ति भाग है उसके सहित हमने उपरोक्त अर्थ लिखा है। इन पंक्तियों से ऊपर प्रतिबोध विदितं मतं इस वाक्य का जो अपना विवेचन पूर्वक अर्थ किया है उसके विषय में भाष्यकार ने लिखा है कि **तस्मान्नित्यालुप्त विज्ञान स्वरूप ज्योतिरात्मा ब्रह्मेत्ययमर्थः सर्वबोध बोधत्वोऽआत्मनः सिध्यति नान्यथा। तस्मात् प्रतिबोध विदित मिति यथा व्याख्यातार्थोऽस्माभिः**। इन भाष्य पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार है। "उक्त विवेचन से आत्मा को सर्व घटादि वृत्ति ज्ञानों का प्रकाशक मानने पर नित्य अलुप्त ज्ञान स्वरूप ज्योति आत्मा ब्रह्म है, यही अर्थ सिद्ध होता है और अन्य प्रकार का अर्थ सिद्ध नहीं हो सकता। तिस कारण से प्रतिबोध विदितं मतं इस वाक्य का जैसा हमने (भाष्यकार ने) व्याख्यान किया है वही अर्थ है।" इन भाष्य की पंक्तियों से यह सिद्ध होता है कि भाष्यकार प्रतिबोध विदितं इस वाक्य का निष्पन्न अर्थ यह मानते हैं कि आत्मा नित्य अलुप्त ज्ञानस्वरूप ज्योतिः अर्थात् स्वयं प्रकाश स्वयं ज्योति आत्मा है।

जो लोग पूर्वोक्त वाक्य का अर्थ स्वसंवेद्यता करते हैं उनका निराकरण करने के लिए ही लेखकोक्त भाष्य की अग्रिम पंक्तियां लिखी हैं। क्योंकि वेदांत सिद्धांत में आत्मा को स्वसंवेद्य नहीं माना। आत्मा को स्वसंवेद्य मानने पर तो आत्मा जड़ सिद्ध हो जायगा। निरुपाधिक आत्मा को एक मानने पर एक में ही वेदितृत्व तथा वेद्यत्व संभव नहीं। पर संवेद्यता की तो अद्वैत आत्मा में कल्पना ही नहीं। यहां कहीं भी आत्मा में स्वयं ज्योतिपने

का खण्डन भाष्यकार ने नहीं किया। किन्तु लेखक स्वसंवेद्यता का ही अर्थ स्वप्रकाशता या स्वयं ज्योति मानकर यह लिख बैठे हैं कि उक्त भाष्य के पर्यालोचन से स्पष्ट हो जाता है कि शांकर वेदान्त का तात्पर्य भी मन आदि उपाधियों से युक्त आत्मा को ही स्वयं ज्योति, स्वसंवेद्य ज्ञान रूप मानने में है। निरुपाधिक शुद्ध आत्मा को नहीं।

लेखक के विचारों में वेदान्त की प्रक्रिया के संस्कार या तो हैं ही नहीं जो हैं वे भी विपरीत। अतएव वे स्वसंवेद्य शब्द का अर्थ स्वयं ज्योति समझ बैठे हैं। यदि वे अद्वैत सिद्धि के प्रथम श्लोक का भी अर्थ उसकी टीका लघु चन्द्रिका के सहित विचार लेते तो ऐसी छोटी भूल न होती और न भाष्यकार के अभिप्राय को विपरीत समझने का ही अपराध होता।

संवेद्य शब्द का अर्थ होता है ज्ञान रूप प्रकाश सम्बन्धी। स्वशब्द का अर्थ होता है स्वात्मभूत। अतः स्वसंवेद्य का अर्थ हुआ स्वात्मभूत प्रकाश सम्बन्धी स्वसंवेद्यता का अर्थ हुआ स्वात्मभूत प्रकाश सम्बन्ध। प्रकाश सम्बन्धी का ही नाम दृश्य है। जो दृश्य होता है वह जड़ तथा मिथ्या होता है। अतएव अद्वैतसिद्धि के प्रथम श्लोक के विजयते पद के अर्थ के प्रसंग में चन्द्रिकाकार लिखते हैं कि **स्वात्म प्रकाश सम्बन्धार्थकत्वेऽपि विष्णोर्दृश्यत्वेन मिथ्यात्वापत्तिः। अथ विजयते इत्यस्य उत्कर्षान्तरमेवार्थः न तु प्रकाश सम्बन्धः॥**

अर्थ—विजयते पद को स्वात्म प्रकाश सम्बन्ध रूप अर्थ वाला मानने पर भी विष्णु को दृश्यत्व सिद्ध हो जाने से मिथ्यात्व की आपत्ति हो जायगी। अतः इस विजयते पद का उत्कर्षान्तर ही अर्थ है न कि प्रकाश सम्बन्ध।

भाव यह है कि स्वसंवेद्यता शब्द का अर्थ स्वयं प्रकाश या स्वयं ज्योति अर्थ नहीं है। अतः केन भाष्य द्वारा स्वसंवेद्यता का खण्डन करने वाली भाष्य पंक्ति से स्वयं ज्योतिपने का खण्डन किसी प्रकार नहीं कहा जा सकता है। अतः इस केन भाष्य पंक्ति को प्रमाण दे उसका अर्थ विपरीत समझ सरल सीधे जिज्ञासुओं को भ्रमित करने के लिए जो लेखक ने यह लिखा है कि "उक्त भाष्यों के पर्यालोचन से स्पष्ट हो जाता है कि शांकर वेदांत का तात्पर्य भी मन आदि उपाधियों से युक्त आत्मा को ही स्वयं ज्योति स्वसंवेद्य ज्ञान रूप मानने में है, शुद्ध आत्मा को नहीं। अतः निर्विरोध समन्वय हो सकता है" उनका यह लेख, अप्रामाणिक विपरीताग्रह पूर्वक एवं प्रतारणा मात्र है। अतः जिज्ञासुओं को सर्वथा त्याज्य है।

तृतीय तथ्य के निष्कर्ष में लेखक ने जो कहा है वह यह है "तृतीय तथ्य के अनुसार न्याय आदि के जन्य ज्ञान गुण मत में ज्ञानाभाव साधक अनुमान के सुषुप्ति रूप पक्ष, व्यवहाराभाव ज्ञान सामग्री का अभाव रूप हेतुओं, की सिद्धि कैसे ? वैष्णव और जैन के अजन्य ज्ञान गुण रूप मत में क्रमशः संकोच विकाशशील और परिणामशील होने पर भी ज्ञान गुण नित्य कैसे ? क्षणिक ज्ञान आत्मवादी बौद्ध मत में संस्काराधान कैसे ? कूटस्थ ज्ञानरूप आत्मवादी सांख्य योग वेदान्त के मत में भी सुषुप्ति में ज्ञान को सिद्ध करने वाले उत्थान कालिक स्मरण के कारणभूत संस्कारों का आधान कूटस्थ ज्ञान रूप आत्मा में कैसे ? इत्यादि प्रश्नों को या तो वे उठाते ही नहीं, यदि उठाते हैं तो दूसरे के पक्षों में दोष दिखाकर प्रतिवादी का मुख मुद्रण मात्र करके परिशेष न्याय से अपने पक्ष की सिद्धि हो गई ऐसा मानकर संतोष कर लेते हैं ।"

अन्य मतों की तरह वेदान्त मत में भी संस्कारों का आधान कूटस्थ ज्ञानरूप आत्मा में कैसे? इस प्रश्न को वेदान्त मत में या तो उठाया हो नहीं या परिशेष न्याय से अपने पक्ष की सिद्धि मान ली है। ऐसा लेखक ने उपरोक्त कथन से सिद्ध करने का प्रयास किया है।

विवेचन—हमने आत्मचित्ता प्रकरण में पाठकों को श्रुति प्रमाण देकर यह उल्लेख कर दिया है कि जब सुषुप्ति का ज्ञाता सोपाधिक आत्मा प्राज्ञ नामा जोव है उसी में संस्कार रहेगें। ज्ञाता में संस्कार रहते हैं ऐसा वादी स्वयं मानता है। तब संस्कारों का आधान कूटस्थ आत्मा में कैसे ? यह प्रश्न वेदांत मत में उठ ही नहीं सकता। ऐसी दशा में अपने दर्शन में उस प्रश्न को उठाकर वेदान्ती को उस पर विवेचन करने की क्या आवश्यकता। अतः जो लोग कूटस्थ ज्ञान स्वरूप आत्मा में संस्काराधानादि प्रश्न और उसके उत्तर को न देने की बात उठाकर वेदांत को भी अन्य दर्शनों की तुल्य कक्षा में निक्षिप्त करते हैं उन महानुभावों ने वेदांत दर्शन का गम्भीर अध्ययन तो क्या अभी उसे सूंघा भी नहीं। अतः मिथ्या दोषारोपण कर वेदान्त कान्याभाव या अन्य अश्रौत दर्शनों के तुल्य पक्ष में निक्षेप प्रदर्शन करते हैं। वे- अपने आपको तो धोखा दे ही रहे हैं। सीधे साधे वेदान्त जिज्ञासुओं को भी भुलावा दे रहे हैं। अतः उनकी यह विचारधारा ग्राह्य नहीं हैं। अतः तृतीय तथ्य का निषकर्ष भी अप्रामाणिक तथा निष्प्रयोजन होने से त्याज्य है।

लेखक ने 'आत्मचित्ता का विचार' नामक प्रकरण के अन्त में निम्न

लिखित पंक्तियां लिखी हैं। 'ज्ञान रूप पदार्थ की नित्यता और अनित्यता का प्रत्यक्ष न होता हो उसे बौद्धिक निर्णय रूप अनुमान द्वारा ही जाना जा सके तो इसमें आश्चर्य की क्या बात ?

विवेचन—लेखक घटादि पदार्थों की अनित्यता को प्रत्यक्ष नहीं मानते। यह भी उनकी अपनी या महानास्तिक साधु शांतिनाथ ही की कल्पना है। विद्वानों का निर्णय नहीं। पूर्वोक्त पंक्ति में वे ज्ञान की नित्यता तथा अनित्यता को अनुमेय कह रहे हैं। किन्तु अग्रिम पंक्तियों में इससे विरुद्ध प्रत्यक्ष लिख रहे हैं कि 'असंदिग्ध, अबाधित अतिस्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। इस परिभाषा के अनुसार बौद्धिक निर्णय रूप ज्ञान भी प्रत्यक्ष कोटि में आ जाता हैं। अत: ज्ञान की नित्यता और अनित्यता के बौद्धिक निर्णय को भी नित्यता और अनित्यता का प्रत्यक्ष कहा जा सकता है।" इन पंक्तियों का ज्ञान की नित्यता अनित्यता को पूर्व पंक्तियों से तो विरोध है ही किन्तु यह भी सिद्ध होता है कि लेखक के मत में सर्व दर्शनकारों को अभिमत ज्ञान में नित्यता तथा अनित्यता का प्रत्यक्ष ज्ञान लेखक को अभिमत है।

लेखक के इस निष्कर्ष से तो एक ही ज्ञान नित्य है तथा अनित्य है। यह परस्पर विरुद्ध निर्णय एक काल में ही होगा। इस आपत्ति पर यदि यह कहा जाय कि अनित्य ज्ञानवादियों के दर्शन से अनित्य ज्ञान का प्रत्यक्ष होगा। नित्य ज्ञान वादियों के दर्शन से नित्य रूप से ज्ञान का प्रत्यक्ष होगा। यह कहना भी संभव नहीं। क्योंकि एक वस्तु विषयक परस्पर विरुद्ध धर्म प्रकारक दो ज्ञान यथार्थ नहीं हो सकते। जैसे वह रज्जु है यह ज्ञान तथा इस ज्ञान के विषयभूत इदं वस्तु का यह सर्प है यह ज्ञान, ये दोनों यथार्थ नही। किन्तु एक यथार्थ है द्वितीय अयथार्थ है। उसी प्रकार ज्ञानरूप वस्तु के परस्पर विरुद्ध नित्यत्वानित्यत्व प्रकारक भिन्न भिन्न दोनों ज्ञान कभी यथार्थ नहीं हो सकते। किन्तु एक यथार्थ एक अयथार्थ होगा। जो व्यक्ति यथार्थ तथा अयथार्थ ज्ञान के विषयों का समान रूप से समन्वय मानते हैं उनके लिये और कुछ न कहकर यही कहा जा सकता है कि वे ब्रह्मा जी की सृष्टि में दार्शनिकों की विचार प्रणाली से भिन्न स्वतन्त्र प्रणाली में प्रविष्ट अंतिम कोटि के प्राणी हैं। अतः उनका यह निर्णय दार्शनिकों को मान्य नहीं। तथा जिज्ञासुओं को तो सर्वथा त्याज्य है।

स्वतः प्रकाश परतः प्रकाश समन्वय विचार

हमने लेखक के समन्वय सम्बन्धी विचारों के विषय में जो कुछ लिख दिया है वह इतना पर्याप्त है कि आगे के सर्व विषयों का विचार उसी के अन्तर्भूत हो जाता है। तथापि स्वतः प्रकाश परतः प्रकाश पर यत्किंचित् लिख कर यह निश्चित करना है कि परिशेष न्याय की पुनः पुनः दुहाई देना कितना भ्रांतिपूर्ण है।

स्वतः प्रकाश परतः प्रकाश समन्वय रूप ३११ पृष्ठ के प्रकरण में परिशेष न्याय शब्द लगभग ८ बार प्रयोग किया है तथा यह सिद्ध किया है कि सर्वदार्शनिक अपने अपने पक्ष को परिशेष न्याय से सिद्ध करते हैं। लेखक खण्डन मण्डन की साधारण युक्तियाँ सर्वपक्षों में दिखाते भी हैं किन्तु परिशेष न्याय को यहां ही क्या सम्पूर्ण पुस्तक में किसी पक्ष में प्रदर्शित नहीं किया है। जबकि सम्पूर्ण पुस्तक परिशेष न्याय की दुहाई से भरी हुई है। कारण क्या? कारण यह है कि अपने को न्याय वैशेषिक दर्शनों के प्रौढ़ ग्रन्थों का टीकाओं के सहित अध्ययन कर्त्ता लिखने तथा मानने पर भी न्याय वैशेषिक दर्शनों के मुख्य विषय अनुमान का ज्ञान लेखक को नगण्य है।

परिशेष न्याय अर्थापत्ति या व्यतिरेकि अनुमान के रूप में कहा गया है। उसको दिखाते ही लेखक की योग्यता का नग्न रूप ही पाठकों के सामने आ जाता, इसी भय से जिन परिशेष न्यायों का अन्य नगण्य युक्तियों के प्रदर्शन के साथ प्रदर्शन करना आवश्यक था प्रदर्शन किया नहीं।

जैसा कि हम पूर्व में प्रदर्शित कर चुके हैं लेखक शास्त्र को सर्वोपरि प्रमाण मानते हैं। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यह शास्त्र ब्रह्म को ज्ञान स्वरूप तथा अत्रायमात्मा स्वयं ज्योति यह शास्त्र आत्मा को स्वयं ज्योति अर्थात् स्वप्रकाश कहता है। तत्वमसि आदि शास्त्र ब्रह्मात्मैक्य कहता है। साक्षाद् परोक्षाद्ब्रह्म यह शास्त्र ब्रह्म को भी साक्षादपरोक्ष अर्थात् स्वयं प्रकाश कह रहा है। पुनः शास्त्र से प्रमाणित वेदांती के स्वप्रकाश पक्ष को भी केवल

तर्कों के आधार पर स्थित अन्य पक्षों के तुल्य कह कर शास्त्रों का प्रामाण्य मुझे सर्वोपरिमान्य है" अपने इस वचन को लेखक ने निरर्थक सिद्ध कर दिया है।

आत्मा की स्वप्रकाशता पर हम पहले ही बहुत कुछ लिख चुके हैं। अतः अधिक कुछ न लिखकर यही लिखते हैं कि इस प्रकरण में जो यह लिखा कि स्वप्रकाश पक्ष में कर्तृकर्म रूप दोष अपरिहार्य है। किन्तु इससे दो पृष्ठ पूर्व ही "स्वयं प्रकाश शब्द का अर्थ अपने आपको जानना नहीं। किन्तु स्वसिद्धि में अन्य प्रकाश की सापेक्षता का अभाव ही है। इसलिए कर्तृ कर्म दोष की भी प्राप्ति नहीं रहेगी" यह लिख कर कर्तृकर्म दोष का निराकरण कर दिया। इस निराकरण करने वाले अपने वचन का निराकरण किये बिना स्वप्रकाश पक्ष में कर्तृकर्म दोष अपरिहार्य कहना समन्वय के मिष से वेदांत दर्शन के प्रति विद्वेष ही सिद्ध करना है।

ज्ञान की स्वप्रकाशता तथा पर-प्रकाशता के प्रत्यक्ष परस्पर विरुद्ध होने से दोनों में से एक प्रमाण न होने से स्वप्रकाशता पर प्रकाशता का भी समन्वय सिद्ध नहीं हो सकता। श्रुति प्रमाण सिद्ध होने से ज्ञान स्वप्रकाश ही यथार्थ है। श्रुति प्रमाण के अनुकूल होने से स्वप्रकाशता का साधक परिशेष न्याय भी अति प्रबल होने से अन्य पक्षों के साधक परिशेष न्याय के तुल्य कदापि नहीं हो सकता।

आत्मा की आनन्दरूपता

आत्मा की आनन्दरूपता पर विचार नामक प्रकरण में लेखक ने आत्मा में आनन्दरूपता को सिद्ध करके समन्वय नहीं किया। लेखक ने अपने इस प्रकरण में वेदान्त की दुःखाभाव से भिन्न आनन्द की मान्यता का कटिबद्ध होकर निराकरण करने का असफल प्रयास करते हुए यह कथन सिद्ध किया है कि शास्त्र में आत्मा के लिए जो आनन्द शब्द का प्रयोग है वह दुःखाभाव का बोधक है।

किन्तु एक मनुष्य एकान्त प्रदेश में अपने मित्र के साथ बैठा हुआ कहता है कि इस समय हमको कोई दुःख नहीं है। अर्थात् दुःखाभाव का अनुभव कर रहा है। किन्तु अकस्मात् किसी पुष्प की उत्तम सुगन्धि का अनुभव करता हुआ अपने मित्र से कहता है कि मित्र पुष्प की इस गंध से तो बड़ा आनन्द आया। भाव यह है कि दुःखाभाव का अनुभव तो सुगन्धि के अनुभव पूर्व क्षण मे भी था और सुगन्धि के अनुभव काल में भी है। अतः उस दुःखा भाव से विलक्षण सुगन्धि जन्य वस्तु का अनुभव कर ही यह कहता है कि सुगन्ध से बड़ा आनन्द आया। अतः आनन्द पद का वाच्य वस्तु दुःखाभाव से अतिरिक्त ही है ऐसा सिद्ध होता है। जब यह प्रश्न होता है कि आप दुःखाभाव क्यों चाहते हैं? तब मनुष्य यही उत्तर देता है कि भाई यदि यह दुःख न रहे तो आनन्द से जीवन व्यतीत हो। आनन्द से स्थिति के लिये ही दःखाभाव चाहते हैं। इससे भी यह सिद्ध होता है कि जिस आनन्द के लिये दुःखाभाव चाहता है वह आनन्द दुःखाभाव से अतिरिक्त ही है। दुःखाभाव की इच्छा भी इसलिए है कि दुःखाभाव के समय आनन्द की अभिव्यक्ति होती है। आनन्द का अभिव्यंजक दुःखाभाव है। अतः आनन्द तथा दुःखाभाव भिन्न हैं।

अनुकूल वेदनीयं सुखम् इस परिभाषा के अनुसार सुषुप्ति में अनुकूल वेदना (ज्ञान) न होने से सुषुप्ति में भी सुख सिद्ध नहीं किया जा सकता। लेखक का यह कथन उचित नहीं। क्योंकि लेखक यह समझ रहे हैं कि अनु-

कूल वेदनीयं इस लक्षण के घटक अनुकूल ज्ञान के समय ही लक्ष्यभूत सुख होता है। किन्तु ऐसा है नहीं। युवाऽवस्था में प्रविष्ट पुरुष की स्रक्चन्दन वनितादि विषय जन्य सुख में अनुकूलता ज्ञान होने के पश्चात् ही उसकी प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति होती है। क्योंकि अनुकूलता का ज्ञान ही प्रवृत्ति का कारण होता है। अतः अनुकूलता ज्ञान के विषय भूत स्रक् चन्दनादि जन्य सुख के पूर्व उस सुख के अभावकाल में भी उस सुख विषयक अनुकूलता का ज्ञान होता है। अन्यथा उस सुख के सम्पादन में प्रवृति ही असम्भव हो जायेगी। सुख के प्रागभाव काल में भी सुख विषयक अनुकूल ज्ञान की विषयता सुख में रहती है। उसी प्रकार सुषुप्ति सुख मेरे अनुकूल है ऐसा ज्ञान सुषुप्ति से पूर्व होता है। तभी सोने की प्रवृत्ति होती है। अतः सुषुप्ति सुख से पूर्व जाग्रत काल में भी सुषुप्ति सुख में सुषुप्ति सुख मेरे अनुकूल है इस ज्ञान की विषयता रहती ही है। सुषुप्ति में अनुकूल ज्ञान नहीं है अतः वहां सुख नहीं ऐसा नहीं कहा जा सकता। **सुखमहं स्वाप्सं न किंचिद वेदिषम्** इस जाग्रत् कालीन सुख स्मरण से सुषुप्ति काल में सुख का अनुभव सिद्ध ही है।

वस्तुतः यह लक्षण सुख के साधन में अति व्याप्त होने से अलक्षण ही है तथा कुन्ति को तो विपत्तियों में भी अनुकूल बुद्धि थी। **अतः विपदः सन्तुनः शश्वत्तात्र तत्र जगद्गुरो।** भगवान् से विपत्तियों को मांग की थी। यह लक्षण कुन्ती की विपत्तियों में भी अति व्याप्त है। अतः इसका परिष्कृत रूप इतरेच्छाऽनधीनेच्छा विषयत्व ही सुख का रूप लक्षण है। वह सौषुप्त सुख में भी विद्यमान है।

जो यह कहा जाता है कि सुषुप्ति में सुख का अनुभव भी स्वीकार कर लें तो भी सुषुप्ति का सुख वेद्य होने के कारण आत्म रूप सिद्ध नहीं होता। यद्यपि सुषुप्ति का आनन्द, आनन्द के कारण विषयादि के अभाव से स्वाभाविक ही मानना चाहिये तथापि वह आत्मरूप सुख उपाधि विशिष्ट होकर अनुभाव्य होता है। अतः अनुभाव्य उपाधि विशिष्ट सुख केवल रूप न होने से केवल आत्म रूप सुख न मानना हम को भी इष्ट है।

जो यह कहा जाता है कि "सुषुप्ति में सुखानुभव मान भी लें तथा साक्षी का विनाश संभव न होने से उसे अविद्या की वृत्ति रूप भी मान लें तब उसके द्वारा साक्षी में ही संस्काराधान मानना होगा। कारण यह है कि

अनुभव करने वाले में ही संस्कार का आधान होता है। तभी "अनुभव करने वाला ही स्मरण करने वाला होता है" इस नियम का निर्वाह हो सकेगा। यह सर्व स्वीकार न होने के कारण वेदान्ती आनन्द को आत्मरूप सिद्ध नहीं कर सकते।"

यह कथन भी उचित नहीं क्योंकि सुषुप्ति में आनन्द का अनुभव कर्ता साक्षी को वेदान्ती नहीं मानते अपितु आनन्दानुभव कर्ता प्राज्ञ को मानते हैं। उसमें ही अविद्या वृत्ति रूप ज्ञान होने से उसके नाश होने पर संस्काराधान होता है। अतः वेदान्ती के मत में कथमपि साक्षी में संस्काराधान की आपत्ति नहीं। न साक्षी में विकार की ही आपत्ति है। इस विषय को पहिले भी विस्तार से कह आये हैं। वह प्राज्ञ ही जब विश्वरूप होता है तब उसका स्मरण भी करता है।

जो यह कहा गया है कि "कभी-कभी रोग चिन्ता आदि कारणों से बहुत कष्ट से नींद आती है। जागने पर मनुष्य कहता है कि आज बहुत कष्ट से सोया। सुख की भांति इस कष्ट को भी विषय इन्द्रिय संयोग विषय चिन्तन से जन्य सिद्ध न होने के कारण क्या वेदान्ती आत्मारूप स्वीकार कर लेगा? यदि इस शंका का यह उत्तर दिया जाए कि निद्राकाल में तो दुःख का अनुभव नहीं होता किन्तु निद्रा से अव्यवहित पूर्व क्षण में रोग चिन्ता, मत्कुण, मच्छर शय्यादि की प्रतिकूलता जन्य दुःख का अनुभव होता है, निद्रा के साथ उस दुःख का एकीकरण करके 'बहुत कष्ट से सोया' यह कहा जाता है। यह उत्तर भी ठीक नहीं। क्योंकि समान तर्क से या तो आत्मा को सुखरूप की भांति दुःखरूप भी मानना पड़ेगा या शय्यादि की प्रतिकूलता से जन्य दुःख की भांति सुख को भी शय्यादि की अनुकूलता से ही जन्य मानना होगा। इसलिए सुषुप्ति के सुख का स्मरण किसी प्रकार आत्मा को सुख रूप सिद्ध नहीं कर सकता।"

यह कथन भी उचित नहीं क्योंकि यह कथन अपने वचन, अनुभव तथा श्रुति से विरुद्ध है।

लेखक कहते हैं कि कभी-कभी रोग चिन्तादि कारणों से बहुत कष्ट से नींद आती है। अपने इस वाक्य में नींद के समय कष्ट का कारण रोग चिन्ता आदि को कहते हैं। पुनः इस कष्ट को भी विषय इन्द्रिय संयोग विषय चिन्तन से जन्य सिद्ध न होने के कारण क्या वेदान्ती आत्मरूप स्वीकार कर लेगा। यह आपत्ति देते हैं? इस आपत्ति वाक्य में सुषुप्ति के समय

के कष्ट को अकारण कहते हैं। रोग भी इन्द्रिय का विषय है। चिन्ता भी किसी पदार्थ विषयक ही होती है. सो तभी होना संभव है जब मन आदिक हों। संभव है लेखक भी मन को इन्द्रिय मानते हों। यदि रोग, चिन्ता के विषय पदार्थ, जो कि मन के विषय होते हैं वे विषयादि रूप रोगादि नहीं तथा उनको विषय करने वाला मन भी नींद में नहीं। तब यह कहना संभव नहीं कि कभी-कभी रोग चिन्तादि कारणों से बहुत कष्ट से नींद आती है। यदि रोग या चिन्ता के विषयभूत पदार्थ का मन इन्द्रिय से अनुभव हो रहा है तो यह कहना सम्भव नहीं कि विषय इन्द्रिय संयोग विषय चिन्तन से जन्य वह कष्ट नहीं है। क्योंकि विषय रोगादि उनके साथ मन आदि इन्द्रिय का सम्बन्ध तथा निर्विषयक चिन्ता न होने के कारण, चिंता स्वीकार करने पर विषय चिन्तन ये सर्व वे वस्तु जिनका स्वयं निराकरण करते हैं वहां विद्यमान ही हैं। अतः पूर्वापर विचार करने पर स्ववचन विरोध है।

मैं कष्टपूर्वक सोया यह अनुभव सुषुप्ति कालीन दुःख (कष्ट) निबन्धन नहीं होता। अपितु असह्य रोग वाला रोगी भी किंचित्काल के लिए सो जाता है तो यह अनुभव करता है कि जितनी देर सोया उतनी देर तो शांति मिली। जागने पर पुनः दुःख अनुभव होने लगा। अतः पूर्वोक्त सुषुप्ति कष्ट कथन अनुभव से भी विरुद्ध है।

सुषुप्ति की स्थिति, बृहदारण्यकोपनिषत् में इस प्रकार वर्णन की है—
अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदाः। अत्रस्तेनोऽस्तेनो भवति भ्रूणहाऽभ्रूणहा चाण्डालोऽचाण्डालः पौल्कसोऽपौल्कसः श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसोऽनन्वागतं पुण्येनान्वगतं पापेन तीर्णोहि तदा सर्वान् शोकान हृदयस्य भवति। बृ० ४/३/२२।

इस सुषुप्ति में पिता अपिता, माता अमाता, लोक अलोक, देव अदेव, वेद अवेद हो जाता है। यहां चोर अचोर भ्रूणहा अभ्रूणहा, चाण्डाल अचाण्डाल, पौल्कस अपौल्कस, श्रमण अश्रमण तथा तापस अतापस हो जाता है। उस समय इसका रूप पुण्य पाप से असम्बन्द्ध हो जाता है। अतएव सुषुप्ति काल में हृदय के सर्व शोकों से पार हो जाता है।

इस बृहदारण्यक श्रुति में जीव को सुषुप्ति में सर्वशोकों से पार बताया है। क्योंकि जब पाप से सम्बन्ध नहीं तो रोग तथा रोग जन्य कष्ट से इसका सम्बन्ध कैसे संभव हो सकता है? अतः सुषुप्ति में कष्ट के अनुभव

का कथन अनुभव से तो विरुद्ध है ही श्रुति से भी विरुद्ध होने से अत्यन्त निरर्थक है। अतः इस संबंध में जितने प्रश्नोत्तर लिखे हैं वे सर्व व्यर्थ हैं।

निद्रा से पूर्वक्षण में रोग, चिन्ता, मत्कुण, मच्छर शय्यादि की प्रतिकूलता जन्य दुःख अनुभव होता है। उस दुःख का निद्रा के साथ एकीकरण करके 'बहुत कष्ट से सोया' यह कहा जाता है। इसी समान तर्क से या तो आत्मा को सुख रूप की भांति दुःख रूप भी मानना पड़ेगा। या शय्यादि की प्रतिकूलता से जन्य दुःख की भाँति सुख को भी शय्यादि की अनुकूलता से जन्य ही मानना होगा। वह कथन भी निर्मूल तथा प्रमाण विरुद्ध है।

लोक में देखते हैं कि कभी-कभी मनुष्य सड़क के किनारे पाषाण खंडों (गिट्टियों) के ढेर पर सो जाता है। जो कि शयन के पूर्वकाल में कठोर होने से प्रतिकूल थे। परन्तु उस से होने वाले कष्ट को निद्रा सुख से कभी एक करता हुआ मनुष्य नहीं देखा गया। प्रत्युत पाषाण खण्डों पर सोए हुए पुरुष को गाढ़ निद्रा से उसका मित्र जब उठाता है तो वह कहता है भाई तुमने मुझे जगा दिया मैं बड़े सुख से सो रहा था। अतः शय्यादि कष्ट का निद्रा के साथ एकीकरण अनुभव की वार्ता आबाल गोपालों के भी अनुभव से विरुद्ध तथा असत्पक्ष पोषण मात्र के लिए प्रयुक्त असत्कथन रूप ही है। निद्रा में कष्ट के अनुभव की तो कथा बहुत दूर प्रत्युत रोगादि जन्य कष्ट को निद्रा का विरोधी होने से तन्निवृत्ति पूर्वक निद्रा प्राप्ति के लिए डाक्टरों से नींद आने के लिये औषध ग्रहण करते हैं।

जो यह कहा जाता है कि 'वेदान्तियों के आद्य आचार्य श्री शंकराचार्य जी ने सुषुप्ति में दुःख का अभाव ही माना है। सुख या सुख भोग नहीं माना। तथाहि—**मनसोविषय विषय्याकारस्पन्दनायास दुःखाभावात् आनन्दमय आनन्द प्रायोनानन्द एव। अनात्यन्तिकत्वात यथालोके निरायासस्थितः सुख्यानन्द भुक् उच्यते।** माण्डूक्योपनिषत् म० ५। अर्थात् मन का जो विषय और विषयीरूप से स्फुरित होने के आयास का दुःख है सुषुप्ति में उस दुख का अभाव होने के कारण यह आनन्दमय आनन्द बहुल कहा जाता है, आनन्द रूप ही हो ऐसा नहीं। यह कथन भी उचित नहीं। क्योंकि लेखक चाहे वेदान्त या अन्य दर्शन की मान्यताओं का खण्डन कर स्वमान्यताओं की युक्तियों से सिद्धि करते तो कोई बात नहीं थी। किसी सम्प्रदाय के आचार्यों के लेख का यथार्थ अर्थ समझे बिना विपरीत भाव प्रदर्शन करना, उस आचार्य प्रतिपादित साधना के साधकों के प्रति भारी अन्याय है। अतः लेखक ने जो भाव

निकाले हैं वे शंकराचार्य जी महाराज के लेख को समझे बिना निकालने से न्याय संगत नहीं। तथापि जितनी पंक्ति लेखक ने लिखी हैं जो कि इसी प्रसंग की है ठीक उससे आगे की एक पंक्ति यह है कि **अत्यन्तानायासरूपा ह्यियं स्थितिरनेनानुभूयते इत्यानन्द भुक्**। इसका अर्थ यह है— 'अत्यन्तानायासरूप यह स्थिति इस प्राज्ञनामा जीव के द्वारा अनुभव की जाती है। अतः आनन्द भुक् कहलाता है"।

लेखक ने जो पंक्ति उद्धृत की है उसका वेदांत संप्रदायानुसार स्पष्ट अर्थ यह है "इस पंक्ति में प्राज्ञ नामा जीव को आनन्दमय कहा है सो आनन्द का विकार सम्भव न होने से आनन्दमय क्यों कहा गया है? इस आशंका की निवृत्ति के लिए भाष्यकार कहते हैं कि जैसे निरायास स्थित मनुष्य (जीव) सुखी आनन्द भुक् कहा जाता है। उसी प्रकार मन का जो विषय तथा विषयाकार से स्फुरित होने के कारण स्वरूप सुख की अभिव्यक्ति का प्रतिबन्धक दुःख है। उसका अभाव होने से यह प्राज्ञ नामा जीव आनन्द बहुल कहलाता है। आनन्द मात्र अर्थात् आनन्दस्वरूप से स्थित है ऐसा नहीं कहा जाता। क्योंकि सुषुप्ति में आनन्द की आत्यन्तिकता नहीं है। क्योंकि वहां आनन्द कारणोपाधि अज्ञान से आवृत्त है। भाव यह है कि यह जीव स्वरूप से आनन्द ही है परन्तु अज्ञान से आवृत होने के कारण सुषुप्ति में यह जीव आनन्द ही है अर्थात् आनन्द मात्र रूप से स्थित है ऐसा नहीं कहा जाता तथा आनन्द का विकार नहीं। अतः आनन्दमय संभव न होने पर भी स्वरूपानन्द के अनभिव्यक्ति का कारण जो दुःख उसका अभाव होने से अज्ञानोपाधि में स्वरूपानन्द अभिव्यक्त (प्रतिबिम्बित) होता है। अतः उस अज्ञानोपाधि से विशिष्ट प्राज्ञनामा जीव आनन्दमय अर्थात आनन्द बहुल कहा जाता है। इसी अत्यन्तायास के अभाव से अत्यन्त दुःख के अभाव होने के कारण अज्ञान में प्रतिबिम्बितानन्द वाली अवस्था को अनुभव करने वाला होने से आनन्द भुक् कहलाता है। यह अर्थ भाष्य के मुख्य टीकाकार आनन्द गिर जी की टीकानुसार किया है।

विवेचन—**नानन्द एव अनात्यन्तिकत्वात्**। पंक्ति के इस अंश से भाष्यकार सुषुप्ति में आनन्द की अनात्यन्तिकता कहते हैं। तथा **अत्यन्तानापास रूपा स्थितिः** इस पंक्ति से सुषुप्ति में अत्यन्त अनायास तथा आयस से जन्य दुःख का अत्यन्त अभाव कह रहे हैं। अतः यदि दुःखाभाव या उसका कारण अनायासाभाव को ही भाष्यकार आनन्द मानते तो सुषुप्ति में या तो

दोनों की आत्यन्तिकता कहते या दोनों की अनात्यन्तिकता कहते। किन्तु सुषुप्ति में आयास जन्य दुःखाभाव की आत्यन्तिकता तथा आनन्द की अनात्यन्तिकता कहकर दोनों को भिन्न-भिन्न ही वर्णन किया है। अतः आत्यन्तिकायासाभाव से होने वाला सुषुप्ति में जो आत्यन्तिक दुःखाभाव है उस से आनन्द सर्वथा भिन्न है तथा अनात्यन्तिक अर्थात् अज्ञान से आवृत स्वरूपानन्द सुषुप्ति में है। ऐसा भाष्यकार को सम्मत होने से यह कहना कि "वेदान्तियों के आचार्य श्री शंकराचार्य जी ने भी सुषुप्ति में दुख का अभाव ही माना है। सुख या सुख भोग नहीं माना" संगत नहीं।

जो यह कहा गया है कि "परम प्रेमास्पदता रूप हेतु से भी स्वसुख की प्राप्ति के लिए मनुष्य सबका परित्याग कर देता है। इतना मात्र ही सिद्ध होता है। आत्मा की सुखरूपता सिद्ध नहीं होती। कारण कि धन की प्राप्ति के लिए सबका परित्याग कर देने वाला लोभी मनुष्य जैसे धनार्थी ही सिद्ध होगा, धन रूप सिद्ध नहीं होगा। वैसे ही सुख के लिये सबका परित्याग करने वाला आत्मा सुखार्थी ही सिद्ध होगा, सुख रूप सिद्ध नहीं होगा। कारण कि अर्थी अर्थ का भेद होता ही है, अभेद नहीं" यह भी उचित नहीं। क्योंकि धन का दृष्टान्त देकर धन के लिये कुछ पदार्थों को त्यागने वाला जैसे धनार्थी बताया वैसे ही सुख आदिकों के लिये कुछ पदार्थों को त्यागने वाला मनुष्य सुखार्थी सिद्ध होता है। किन्तु धन के लिए कुछ पदार्थों को मनुष्य क्यों त्याग देता है तो कहना होगा कि जिन पदार्थों को धनार्थ परित्याग किया जाता है उनकी अपेक्षा धन प्रिय है। अत एव धनार्थ पदार्थ परित्याग करता है। एवमेव सुखार्थ जिन धनादि पदार्थों का परित्याग करता है। उन धनादिक पदार्थों से सुख अधिक प्रिय है। इसी प्रकार जिन साधनों को धन के लिए चाहता है उन साधनों से धन प्रिय है। धन को जिस सुख के लिए चाहता है वह सुख धन से प्रिय है। किन्तु सुख को भी जिस आत्मा के लिए चाहता है वह आत्मा सुख से भी अधिक प्रिय है। अतः सर्वाधिक प्रिय आत्मा है। अतएव बृहदारण्यक श्रुति भी है—**तदेतत्प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मात् अन्तरतरं यदयमात्मा।**

अर्थ—जो यह अन्तरतर आत्मतत्व है यह आत्म तत्व पुत्र धन एवं अन्य सर्वलोक में प्रिय रूप से प्रसिद्ध पदार्थ, उन सर्व से अधिक प्रिय है। इस प्रकार विवेचन करने पर यह सिद्ध होता है कि सुख के साधन प्रिय

हैं। सुख प्रियतर है। सुख भी जिस आत्मा के लिए काम्य है वह प्रियतम है। प्रियतम अर्थात् परम प्रेमास्पद होने से ही आत्मा न सुख का साधन है न विषय सुख है। किन्तु परम सुख रूप है। इस प्रकार आत्मा की परम सुखरूपता को कैसे निवारण किया जा सकता है ? अपनी परमानन्दरूपता के अज्ञान के कारण जिस आभास रूप सुख का यह अर्थी है तत्सुखरूप आत्मा को मानना तो वेदान्ती को भी इष्ट नहीं। किन्तु आभास रूप विषय सुख का भी जो स्रोत है वह परमानद ही आत्मा का स्वरूप है।

यह जो कहा कि विषयों में सुख नहीं यह कहना तो ठीक है किन्तु परिशेषतः आत्मा सुख स्वरूप है। यह कहना ठीक नहीं। यहां से……इसलिये आत्मा की सुखरूपता का व्यसन छोड़ देना चाहिए यहां पर्यन्त का कथन इस लिए अविचारणीय है कि सुखानुभूति विषयों में सुख न मानकर अर्थात् उनका धर्म सुख न मानकर अन्तःकरण का धर्म मानने पर भी उपपन्न हो जायेगी। अतः पूर्वोक्त प्रकार से आत्मा की सुखरूपता में उपरोक्त परिशेष प्रदर्शन ही अनुपपन्न है। अतः वेदान्ती इसका प्रदर्शन क्यों करेगा? तब उसका प्रदर्शन कर उसके निराकरण में लेखक ने व्यर्थ ही परिश्रम किया है। अतः उस पर विचार करने की भी आवश्यकता नहीं। पुनः यह जो कहा कि "श्रुति तो दुःख की भांति सुख की भी आत्मरूपता का निषेध करती है। **अशरीरं वाव न प्रियाप्रिये स्पृशतः**" "शरीर रहित आत्मा को निश्चय ही सुख दुःख का स्पर्श नहीं होता" इसे तो वेदान्ती भी स्वीकार करता है। क्योंकि पदार्थ संपर्क से जन्य दुःख सुख दोनों का आत्मा में अभाव वेदान्ती मानता ही है।

"**विज्ञानमानन्दम्**" आदि श्रुतियां तो दुःखाभाव को ही आनन्द शब्द से कहती है। यह कथन भी उचित नहीं क्योंकि इस पर पूर्व पृष्ठों पर विचार कर दिया गया है कि आनन्द तथा दुःखाभाव भिन्न होने से दुःखाभाव का वाचक आनन्द पद नहीं है।

जैसे लोक में दुःख निवृत्त हो जाने पर अब "मैं सुखी हो गया" इस कथन में दुःखाभाव को ही सुख शब्द से कहा जाता है। यह कहना भी इसलिये उचित नहीं कि जो दुःखाभाव अनुभव करते हुए पुरुष स्थित है उसको जिस समय किसी पदार्थ की भी इच्छा नहीं है पुनरपि अकस्मात् इष्ट पदार्थ के संयोग से चित्त में जो आह्लाद विशेष हुआ वह दुःखाभाव से अतिरिक्त बलात् मानना पड़ेगा। वही सुख शब्द का वाच्य दुःखाभाव से

अतिरिक्त पदार्थ है। जो दु:खाभाव शब्द से कदापि नहीं कहा जा सकता है।

पुनः जो यह कहा है कि "सुख तथा सुख ग्राहक ज्ञान दोनों आत्मा के गुण हैं। वें साथ साथ नहीं हो सकेंगे। इसलिए कभी सुख का ग्रहण ही नहीं होगा। यह जो आशंका उठती है उसका समाधान यह है कि आत्मा के दो गुण एक साथ तो उत्पन्न नहीं हो सकते किन्तु एक साथ अवश्य रह सकते हैं। इसलिये ज्ञान से सुख का ग्रहण हो जायेगा। यह कहना भी आवश्यक नहीं। इस शंका तथा समाधान की आवश्यकता लेखक को इसलिए नहीं कि जब वे सुखनामक कोई गुण दुखाभाव से अतिरिक्त मानते ही नहीं तो इस शंका का समाधान की क्या आवश्यकता ?

यदि दु:खाभाव को ही सुख शब्द से कह कर सुख विषयक शंका समाधान पर किये हमारे आक्षेप का निराकरण करें तो वह भी सम्भव नहीं। क्योंकि दु:ख के पश्चात् जो दु:खाभाव है वह ध्वंस स्वरूप होने से उत्पत्ति के पश्चात् बना रहने से उसके ज्ञान होने में कोई आपत्ति ही नहीं। इसी प्रकार दु:ख प्रागभाव तथा अत्यन्ताभावादि चिरकाल स्थायी रहते हैं। अत: उनकी ज्ञान विषयता में कोई आशंका या उसके समाधान की भी आवश्यकता नहीं।

यदि लेखक कहें कि सुख को दुखाभाव से अतिरिक्त गुण मानकर उक्त शंका समाधान है तब भी सम्भव नहीं। क्योंकि आत्ममन के संयोग से जिस क्षण में सुख उत्पन्न हुआ उसमे द्वितीय क्षण में पूर्व संयोग का नाशक विभाग गुण उत्पन्न होकर तृतीय क्षण में पूर्व संयोग का नाश करेगा। पुनः चतुर्थ क्षण में द्वितीय मन तथा आत्मा का संयोग सुख के ज्ञानका उत्पादक स्वीकारें करना होगा क्योंकि विलक्षण सामग्री से ही विलक्षण कार्य होता है। अत: सुख का उत्पादक संयोग सुख के ज्ञान का उत्पादक सम्भव न होने से, सुख ज्ञान की उत्पत्ति के लिये सुख जनक संयोग, ज्ञान जनक संयोग से भिन्न ही मानना आवश्यक है। वह चतुर्थक्षण में ही सम्भव है। तब तक सुख नष्ट हो जायेगा। क्योंकि ज्ञान से अतिरिक्त आत्म विशेष गुणों की द्वितीय क्षण पर्यन्त ही स्थिति मानी है। तृतीय क्षण में वे नष्ट हो जाते हैं। सुख के न रहने पर सुख विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव नहीं क्योंकि विषय विषयक लौकिक प्रत्यक्ष में विषय भी हेतु होता है। हेतु (कारण) के अभाव में 'कार्य होता नहीं" अत: सुख रूप कारण के अभाव

होने से सुख का ज्ञान भूत कार्य चतुर्थ क्षण में कथमपि सम्भव न होने से लेखक का समाधान सम्भव नहीं।

आत्मरूप नित्य सुख तथा दुखाभाव से अतिरिक्त सुख की बाधक युक्तियों का पूर्वोक्त प्रकार से निराकरण हो जाने पर अस्मत्प्रदत्त युक्तियों से आत्मा नित्य सुख स्वरूप है तथा सुख दुःखाभाव से भिन्न है यह निर्विघ्न सिद्ध हो जाता है। अतः पुण्य एवं इष्ट पदार्थ संप्रयोग से जन्य विषय सुख जो कि बुद्धि सत्व का धर्म है। उसका आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं तथा स्व-स्वरूपभूत सुख का कभी वियोग नहीं, ऐसा मानना ही पूर्वोक्त युक्ति, विवेकशील श्रुत्यनुसारार्थ के निर्णायक पुरुषों की अनुभूति तथा अशरीरं वाव न प्रियाप्रिये स्पृशतः "विज्ञानमानन्दम्" इत्यादि श्रुति के सर्वथा अनुकूल है।

आत्म-आनन्दता समन्वय विचार

आत्म स्वरूप भूत आनन्द आत्मा का गुण सम्भव नहीं। जो गुण रूप सुख वह आत्मा का स्वरूप सम्भव नहीं तथा आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध भी सम्भव नहीं। जो गुण है वह सुख नित्य नहीं। जो आत्मरूप सुख है वह कदापि अनित्य नहीं। अतः आनन्द की आत्मरूपता, गुणरूपता, नित्यता, अनित्यता मतों में परस्पर भेद है। वह परिभाषा मात्र नहीं। हां उनका साक्षात् समन्वय परिभाषा मात्र या कहने मात्र कहा जा सकता है क्योंकि वह सम्भव ही नहीं है। अतएव समन्वय विचार प्रकरण में प्रदर्शित प्रकार से ही दर्शनों का समन्वय सम्भव है लेखकोक्त प्रकार से नहीं।

लेखक आत्म-आनन्द के विषय में निम्न प्रकार से प्रयास करते हैं—

१. जिस वृत्यात्मक वेद्य विशेष सुख को न्याय आदि दर्शन सुख शब्द का वाच्य मानते हैं। उसे तो सभी के मत में उत्पत्ति या अभिव्यक्ति के रूपमें आगन्तुक (अनित्य) स्वीकार किया है। वैसा सुख सुषुप्ति, समाधि तथा मुक्ति में नहीं होता इसलिए न्यायादि दर्शन आत्मा को सुख रूप नहीं मानते। इसमें आत्मरूप सुख वादियों को भी कुछ आपत्ति नहीं। कारण कि आत्मरूप नित्य सुख को वे भी न वृत्यात्मक मानते हैं न वेद्य ही मानते हैं। उसमें किसी प्रकार का विवाद है ही नहीं। इसलिए सुगमता से समन्वय हो ही सकता है।

विवेचन—लेखक ने उपरोक्त अनुच्छेद में दो बातें प्रदर्शित की हैं। प्रथम वेद्य सुख रूप आत्मा नहीं है। इस विषय में समन्वय में सुगमता। द्वितीय वेदान्ती को अनापति का प्रदर्शन। ये दोनों ही बातें सम्भव नहीं। वेदान्ती वेद्य सुख को न तो आत्मा का धर्म ही मानते हैं न तद्रूप ही। वे तो वेद्य सुख को मात्र अन्तःकरण का धर्म मानते हैं। वेदान्ती अभिमत नित्य सुख रूप आत्मा का निषेध कर दिये जाने पर वेद्य सुख तथा दुःखादि का अनधिकरण असुखरूप आत्मा का नैयायिकाभिमत सुखादि के अधि-

करण रूप आत्मा के साथ समन्वय कैसे सुगम हो सकता है ? नित्य ज्ञानरूप से अनभिमत, सुखादि का अत्यन्तानधिकरण पाषाणादि के समान आत्मा स्वीकार करने में वेदान्ती को आपत्ति भी क्यों न होगी ? अतः जिस समन्वय की कृपा से वेदान्ती को आत्मा पाषाणादि के समान मानना पड़े उस समन्वय में वेदान्ती को कोई आपत्ति नहीं यह सिद्ध करना भारी भूल है ।

२. वास्तव में बात यह है कि जैसे आत्मा को जड़ता से बचाने के लिए उसे नित्य ज्ञान रूप या नित्य ज्ञान गुण वाला माना गया है, वैसे ही अनित्य सुख के अभाव काल में कहीं आत्मा दुःख रूप या दुःख गुण वाला न हो जाए इसलिए आत्मा को नित्य सुख रूप या नित्य सुख गुण वाला माना है ।

यहां यह निवेदन है कि आत्मा को दुःखरूपतादि दोषों से बचाने का काम तो न्यायादि दर्शनों के मतों के अनुसार आत्मा को अनित्य सुख गुण वाला मानने से भी सुतरां सम्पन्न हो जाता है । कारण कि जहाँ कभी भी सुख उत्पन्न होता है वह पदार्थ दुःख रूप कैसे हो सकता है ? इसी प्रकार न्यायादि के मत में सुख की भांति दुःख भी पाप रूप हेतु से जन्य है । अतः सुख गुण के अभाव मात्र से उस काल में आत्मा के दुःख गुण वाला होने की आशंका भी निरर्थक ही है । इसलिए आत्मा को सुख गुण वाला या दुःखाभाव रूप मानने से ही आत्मा की दुःखरूपता या दुःख गुणवत्ता की आपत्ति की निवृत्ति हो जाती है । इस प्रकार समन्वय करने में किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं आती । इत्यादि ।

विवेचन—उपरोक्त समस्त लेख से यह सिद्ध किया है कि यदि आत्मा को सुख गुण वाला मान लिया जाए तो दुःख रूपता या दुःख गुणवत्ता की आपत्ति नहीं आयेगी । अथवा दुःखाभाव वाला मान लिया जाए तो भी दुःखरूपता या दुःख गुणवत्ता की आपत्ति नहीं आयेगी । नैयायिकों की उपरोक्त मान्यता को यदि उनके शब्दों की रचना प्रकार से लिखें तो वह प्रकार यह होगा कि—आत्मा दुःख गुणाभाववान् सुख गुणवत्वात् किन्तु यहां बाध बैठा है । क्योंकि नैयायिक आत्मा को सुख गुण वाला मानते हुए भी दुःख गुणवाला भी मानता है । यदि नैयायिक या लेखक कहें कि हम तो मुक्ति दशा की बात कर रहे हैं तो हमारा यह कहना है कि पुनः मुक्ति में सुख गुण भी न रहने से वहां जब सुख गुणवत्ता नहीं है तब सुख गुण वाला होने से दुःख रूप तथा दुःख

गुणाभाववान् आत्मा मुक्ति में है यह कैसे कहा जा सकता है ? यदि कहा जाए कि जहां एकदा सुख उत्पन्न हो जाता है वहां सुख की अधिकरणता सदा रहती है। अतः मुक्ति दशा में भी आत्मा सुखवाला कहा जा सकता है। इस पर हमारा कहना है कि अधिकरणता सापेक्ष पदार्थ है उसको अपने निरूपक की अपेक्षा रहती है। उसके अभाव में अधिकरणता की कथमपि सिद्धि नही हो सकती। अतः मुक्ति दशा में कभी भी सुख न उत्पन्न होने से सुख की अधिकरणता भी सिद्ध नहीं हो सकती। ऐसी दशा में मुक्ति में सुख गुण वाला कभी भी नहीं कहा जा सकता है। मुक्ति दशा में आत्मा जब सुख वाला सिद्ध नहीं होता तब दुःख रूप या दुःख वाला क्यों न होगा ? यदि कहो भले ही बद्ध अवस्था में सही एक बार निरूपक के उत्पन्न होने वाले अधिकरण में उसकी अधिकरणता रहने से मुक्त आत्मा भी सुख वाला कहा जा सकता है। तब दुःख के उत्पन्न होने से मुक्ति अवस्था में आत्मा दुःख वाला ही सिद्ध होगा। न कि दुःखगुणाभाववान्।

पुनः उपरोक्त दोष के निवारणार्थ यह कहा जाए कि दुःखाभाव वाला होने से मुक्तावस्था मे आत्मा दुःखरूप या दुःख गुणवाला नहीं है तो यह कहना भी उचित नहीं क्योंकि दुःख स्वयं दुःख के अभाव वाला होता है तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार समवाय सम्बन्ध से नैयायिकाभिमत आत्मा में दुःख रहता है उसी प्रकार समवाय सम्बन्ध से दुःख में दुःख नहीं रहता। अतः दुःख के अभाव वाला होने से आत्मा दुःख रूप नहीं, यह इसलिये ही व्यभिचार युक्त है कि दुःख दुःख के अभाव वाला है तथा स्वयं दुःखरूप भी है। ऐसी अवस्था में यह कहना कथमपि संभव नहीं कि दुःखाभाव वाला होने से आत्मा दुःख रूप नहीं। प्रत्युत यही कहना होगा कि जिस प्रकार दुःख, दुःख के अभाव वाला होता हुआ भी दुःख रूप ही है उसी प्रकार आत्मा भी दुःख के अभाव वाला होता हुआ भी दुःख रूप ही है। अतः दुःख रूपता की आपत्ति से बचकर भागना, लेखक को असंभव ही है। यह समाधान लेखकोक्त दुःखाभाव मात्र को ग्रहण कर किया है न कि विशेष दुःखाभाव की दृष्टि से।

एवमेव मुक्ति की अवस्था में दुःख के अभाव वाला होने से आत्मा दुःख के अभाव वाला है, एतादृश युक्ति प्रदर्शन भी अनुचित होने से नहीं किया जा सकता है। क्योंकि जहाँ हेतु पक्ष में प्रसिद्ध हो तथा साध्य भी हेतु के अत्यन्त सदृश हो वहां युक्ति प्रदर्शन व्यर्थ होने से अनुचित ही माना जाता है। लेखकोक्त युक्ति अपने साध्य को समर्थ करने में असमर्थ होने से

आत्मा में दुःखरूपता या दुःख गुणवत्ता बनी रहने से, समन्वय, बाधा से ग्रस्त होने से कथमपि संभव नहीं है।

तत्पश्चात् कुछ असफल कथन करते हुए आनन्द आदि शब्दों का प्रयोग दुःखरूपता की व्यावृत्ति के लिए जो यह कहा कि 'यह दुःखव्यावृत्ति रूप कार्य दुःखाभाव कथन से भी सम्यक् सम्पन्न हो जाता है" यह कथन भी पूर्वोक्त प्रकार से सर्वथा असंगत है, क्योंकि दुःखाभाव रूप दुःख, दुःख से व्यावृत्त नहीं है। इस विषय में शांकर भाष्य की जो पंक्तियां निषेध में तात्पर्य वाली समझ कर उद्धत की हैं उनका समाधान आत्मचित्ता प्रकरण में दिया जा चुका है। उसे "आत्मचित्ता प्रकरण विचार" शीर्षक में देखें।

उक्त विवेचन से समन्वय का कोई भी तथ्य हस्तगत नहीं होता। क्योंकि लेखक ने निम्नलिखित चार तथ्य लिखे हैं। वे चारों ही युक्तिहीन बताये जा चुके हैं। लेखकोक्त तथ्य इस प्रकार हैं—

१. वेद्य वृत्ति रूप सुख सभी को नित्य रूप मान्य नहीं।

विवेचन—नित्य रूप में तो मान्य नहीं किन्तु नैयायिकादि के समान वेदान्ती को आत्मधर्म भी मान्य नहीं अतः अनित्य वेद्य सुख वाले आत्मवादियों के साथ, अनित्य वेद्य सुख को आत्मा का धर्म न मानकर अनात्मा का ही धर्म मानने वाले वेदान्तादि दर्शनों का समन्वय कथमपि सम्भव नहीं।

२. आत्मा की दुःखरूपता की व्यावृत्ति, आत्मा को नित्य सुखरूप या नित्य सुखगुणवान् या अनित्य सुख गुणवान् या दुःखाभाव रूप मानने वाले सभी पक्षों में समान रूप से हो जाती है।

विवेचन—यह द्वितीय तथ्य इसलिए उचित नहीं कि समीप में ही हम यह सिद्ध कर आये हैं कि दःखाभाव वाला आत्मा को मानने पर आत्मा की दुःखरूपता ही सिद्ध होती है न कि दुःखरूपता की व्यावृत्ति।

३. अपने अपने पक्ष की साधक युक्तियाँ और अनुभूतियां सभी पक्षों में विद्यमान हैं तथा सभी परिशेष न्याय से ही अन्तिम समस्या का समाधान करते हैं।

विवेचन—जैसा कि ग्रंथ में पीछे कह आये हैं कि लेखक भी शास्त्र को सर्व विषयों के निर्णय में परम प्रमाण मानते हैं। अतः सभी पक्षों में युक्ति तथा अनुभूति के विद्यमान रहने पर भी जिस पक्ष की युक्ति, अनुभूति एवं परिशेष न्याय श्रुति के निर्णय के अनुकूल हैं वे ही प्रबल होने से अपने साध्य के साधक माने जायेंगे अन्य नहीं।

४. अनित्य सुख पक्ष में सुख के ज्ञान की समस्या अपरिहार्य है । नित्य सुख पक्ष में स्मृति के उत्पादक संस्कार के आधान की समस्या अपरिहार्य है ।

विवेचन—जो वेद्य अनित्य सुख को नैयायिकों के समान मनोग्राह्य माना जाय तो वस्तुतः उसके ज्ञान की समस्या अपरिहार्य है । किन्तु वेदान्त मत में जिस समय शुभादृष्ट वशात् सुख उत्पन्न होता है उसी समय साक्षी से उसका प्रकाश हो जाने से अनित्य सुख पक्ष में सुख के ज्ञान की कोई भी समस्या नहीं होती । नित्य सुख पक्षों में स्मृति के संस्काराधान की समस्या क्यों अपरिहार्य है कोई कारण न कहकर प्रतिज्ञा मात्र से तो कोई भी वस्तु सिद्ध नहीं हो सकती । क्योंकि नित्य सुख के अनुभव कर्ता के अनित्य वृत्ति ज्ञान जन्य संस्कार क्यों न होंगे तथा स्मृति भी क्यों न होगी अर्थात् अवश्य होगी ।

अतः उपरोक्त विवेचन से दुःखाभाव से अतिरिक्त आनन्द शब्द का वाच्य सिद्ध हो जाने से तथा आत्मा को निर्विकार होने से उसमें अनित्य सुखरूप गुण कथमपि संभव न होने से श्रुति तथा अनुभव से परम प्रेमास्पद होने से नित्य परमानन्द स्वरूप ही आत्मा है यही निर्णय उचित है ।

आत्मकर्तृत्व विचार

"नायं हन्ति न हन्यते" यह आत्मा न मारता है न किसी के द्वारा मारा जाता है । इस श्रुति तथा स्मृति ने मारणादि क्रियाओं का कर्तृत्वाभाव ही आत्मा में निरूपण किया है । **पुरुषस्य कर्तृत्व भोक्तृत्व सुख-दुःखादि-लक्षणश्चित्त धर्मः** । मुक्ति कोपनिषत् अ० २-१ । इस श्रुति वाक्य ने कर्तृत्व भोक्तृत्व को स्पष्ट रूप से चित्त धर्म ही कहा है । अतएव **अहं कर्ता, अहं भोक्ता, अहं सुखी, अहं दुःखी** इत्यादि प्रतीतियों से सिद्ध आत्मनिष्ठ कर्तृत्व भोक्तृत्व सुख दुःखादि धर्म औपाधिक हैं । इस अभिप्राय से ही श्रुति वचन है कि—**आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः** । शरीरेन्द्रिय तथा मनो-विशिष्टात्मतत्व ही भोक्ता है ॥ 'तद्गुणसारत्वात्' इत्यादि २-३-२९ सूत्र तथा तद्भाष्य में भी **'तस्याबुद्धेर्गुणास्तद्गुणा इच्छा द्वेषः सुखं दुःखमित्ये-**

वमादयस्तद्गुणाः सारः प्रधानं यस्यात्मनः संसारित्वे संभवति सस्तद्गुणसारस्त-स्यभावस्तद्गुणसारत्वम् । न हि बुद्धेर्गुणैर्विना केवलस्यात्मनः संसारित्वमस्ति । बुद्धयादिधर्माध्यास निमित्तंहि कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षण संसारित्वमकर्तुर-भोक्तुश्चाससारिणो नित्यमुक्तस्य सतआत्मनः" । बुद्धि के गुण इच्छा द्वेष सुख दुःखादि ही आत्मा के संसारिपने में प्रधान हैं। बुद्धि के गुणों के बिना केवल आत्मा में संसारित्व नहीं है। अतः बुद्धि आदि के धर्माध्यास निमि-त्तक ही कर्तृत्व भोक्तृत्वादि रूप संसारित्व, अकर्ता अभोक्ता असंसारि नित्यमुक्त आत्मा में है। उपरोक्त श्रुति स्मृति सूत्र तथा भाष्य से आत्मनिष्ठ अकर्तृत्व अभोक्तृत्व तथा बुद्धि निष्ठ ही कर्तृत्व भोक्तृत्व सिद्ध है।

पुनरपि लेखक अपने को शास्त्र प्रमाण को ही सर्वोपरि मानने वाला कहकर भी केवल शुष्क तर्क के आधार पर खड़े होकर आत्मकर्तृत्वादि विचार प्रकरण में लिखते हैं कि "सुषुप्ति में अन्तःकरण का सम्बन्ध न रहने के कारण कर्तृत्व भोक्तृत्व की प्रतीति न होने मात्र से कर्तृत्व भोक्तृत्व को अंतःकरण में मानना उसी प्रकार उपहास के योग्य है जिस प्रकार लेखनी रूप साधन के अभाव होने पर पुरुष में लेखकत्व न मानकर लेखनी को ही लेखक मान लेना"। किन्तु लेखक का यह दृष्टान्त विषम है। क्योंकि जिस प्रकार पुरुष से अत्यन्त भिन्न तथा लेखन रूप क्रिया के प्रतिकरण रूप से प्रसिद्ध लेखनी है उस प्रकार पुरुष से भिन्न तथा कर्तृत्व के प्रति साधन (करण) रूप से प्रसिद्ध अन्तःकरण नहीं है। अतः श्रुति, स्मृति तथा सूत्र भाष्य से विरुद्ध विषम दृष्टान्त प्रदर्शन लेखक का उपहास उड़ा रहा है।

"अन्तःकरण में तो करणत्व है फिर उसमें कर्तृत्व कैसे सिद्ध हो सकता है" लेखक का यह कथन भी अत्यन्त उपहासास्पद है क्योंकि लेखक अभी तक अन्तःकरण को कर्तृत्व के प्रति करणत्व किसी भी प्रमाण से सिद्ध करने में सर्वथा असमर्थ रहे हैं।

"जपाकुसुमादि में लालिमा की भांति अन्तःकरण में कर्तृत्व भोक्तृत्व को किसी प्रमाण से सिद्ध किये बिना उसका अज्ञान से आत्मा में अध्यारोप भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। आत्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्व अध्यारोपित सिद्ध न होने के कारण परिशेष न्याय से कर्तृत्व भोक्तृत्व स्वाभाविक ही सिद्ध होते हैं तथा सुषुप्ति में उनकी अप्रतीति अन्तःकरण रूप साधन के अभाव के कारण ही होती है"। यह कथन भी उचित नहीं। क्योंकि सर्वोपरि प्रमाण भूत श्रुति, स्मृति, सूत्र तथा भाष्य से जपाकुसुम की भाँति अन्तःकरण में कर्तृत्व भोक्तृत्वादि धर्म सिद्ध हो जाने से आत्मा में उनका अध्यारोप भी

सम्भव है। अतएव अन्तःकरणतादात्म्यापन्नात्मरूप अहं अर्थ में प्रतीयमान कर्तृत्व भोक्तृत्वादिक परिशेष न्याय से कथमपि आत्मा के स्वाभाविक धर्म सिद्ध नहीं हो सकते। अतएव सुषुप्ति में भी उनकी अप्रतीति कर्तृत्व भोक्तृत्व के धर्मी अन्तःकरण रूप आत्मा की उपाधि के विलय होने के कारण ही होती है। क्योंकि उपरोक्त श्रुति, स्मृति, सूत्र तथा भाष्य से विरुद्ध होने से अन्तःकरण में कर्तृत्व के प्रति करणत्व किसी भी कुतर्क से सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

अन्तःकरण निष्ठ कर्तृत्व भोक्तृत्व मानने में लेखक ने यह भी आपत्ति उठाई है कि "कर्तृत्व भोक्तृत्व की भांति विषयों का स्पष्ट ज्ञान अन्तकरणादि के होने पर ही होता है। अन्तःकरण का अभाव होने पर विषयों का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। इसलिए ज्ञान भी आत्मा में स्वाभाविक नहीं। यह ज्ञान भी जड़ अन्तःकरण का ही धर्म है, यह भी मानना पड़ेगा। इत्यादि।

उपरोक्त आपत्ति भी अविचारित रमणीया ही है। क्योंकि लेखक जिस वृत्ति ज्ञान को विषयों का स्पष्ट ज्ञान कहते हैं वह वृत्ति रूप ज्ञान भी आत्मा में स्वाभाविक नहीं। वह ज्ञान अन्तःकरण का ही धर्म है। यह हमको इष्ट है ही क्योंकि आत्मा न तो वृत्ति ज्ञान रूप ही है न उसका धर्म ही वृत्ति ज्ञान है। किन्तु वृत्ति ज्ञान से भिन्न वृत्ति ज्ञान का प्रकाशक नित्य ज्ञानरूप आत्मा है। अतः वेदान्त मत के अनुसार वृत्तिज्ञान आत्मा का धर्म न होने पर भी आत्मा को नित्य ज्ञान रूप होने से जड़ता की आपत्ति कथमपि न तो प्राप्त ही है न होना सम्भव ही है।

उपरोक्त निर्णय में लेखक को यह आपत्ति है "यदि कहें कि स्पष्ट विषय अवभासक विशेष ज्ञान को ही आत्मा में स्वाभाविक नहीं मानते, किन्तु सामान्य ज्ञान आत्मा में स्वाभाविक मान्य होने के कारण जड़ता की आपत्ति नहीं प्राप्त होगी तो यह उत्तर भी ठीक नहीं। क्योंकि विशेष ज्ञान की भांति विशेष स्पष्ट सुख दुःख के भोक्तृत्व को तथा विशेष क्रिया के कर्तृत्व को अन्तःकरण आदि के सम्बन्ध से आगन्तुक मानिये। सामान्य ज्ञान की तरह सामान्य कर्तृत्व भोक्तृत्व को भी (कर्तृत्वभोक्तृत्व-शक्ति को भी) आत्मा में स्वाभाविक मानना चाहिए। क्योंकि कर्तृत्व भोक्तृत्व की भाँति विशेष ज्ञान में भी अन्तःकरण की अन्वय व्यतिरेक युक्ति और अनुभूति एक सी ही है। इत्यादि।

उक्त आपत्ति भी वेदान्त के सिद्धान्त की अनभिज्ञता तथा उपरोक्त श्रुति, स्मृति तथा सूत्र एवं भाष्य के बिना विचारे है। क्योंकि वेदान्ती ऐसा मानता है कि नित्यज्ञानस्वरूप आत्मा है। अतएव आत्मा में जड़ता की आपत्ति नहीं। वेदान्ती आत्मा को सामान्य ज्ञान (ज्ञान-शक्ति) स्वरूप नहीं मानता। वह तो आत्मा में ज्ञान शक्ति भी नहीं मानता है। वह तो वृत्तिरूप आगन्तुक विशेष ज्ञान अन्तःकरण में मानता है तथा कर्तृत्व भोक्तृत्व भी उसी में मानता है। अतएव लेखक अभिमत वृत्तिरूप आगन्तुक विशेष ज्ञान शक्ति (सामान्य ज्ञान) भी अन्तःकरण में ही मानता है। कर्तृत्व भोक्तृत्व की शक्ति (सामान्य कर्तृत्व भोक्तृत्व) भी अन्तःकरण में मानता है। अतः ज्ञान सामान्य (ज्ञान शक्ति) वेदान्ती जब आत्मा में मानता ही नहीं तब ज्ञान सामान्य की भांति वेदान्ती को आत्मा में ही कर्तृत्व भोक्तृत्व सामान्य मानना पड़ेगा यह आपत्ति कैसे दी जा सकती है।

'**एषहि द्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, कर्ता भोक्ता**" आदि श्रुति भी समान रूप से उपलब्ध होती हैं। फिर ज्ञान को आत्मा का स्वभाविक रूप मानना और कर्तृत्व भोक्तृत्व को औपाधिक रूप मानना और कर्तृत्व भोक्तृत्व को औपाधिक रूप मानना कहां तक ठीक है।"

लेखक की उपरोक्त आपत्ति भी वेदान्त के सिद्धान्त के समझे बिना ही है। क्योंकि कर्तृत्व भोक्तृत्व की भांति श्रोतृत्व आदि को भी वेदान्ती औपाधिक ही मानते हैं।

अन्तःकरण के होने पर ही ' मैं साक्षी हूँ मैं ब्रह्म हूँ मैं कूटस्थ निर्विकार हूं" इत्यादि सभी स्पष्ट अनुभूतियां होती हैं। न होने पर नहीं होती। ऐसी दशा में कर्तृत्व भोक्तृत्व की भांति समान न्याय से "**साक्षित्व ब्रह्मत्व कूटस्थत्व निर्विकारत्वादि**" को भी जड़ अन्तःकरण का धर्म मानना होगा।

उपरोक्त आपत्ति भी वेदान्त की प्रक्रिया के अज्ञान से ही है। क्योंकि जैसे आबाल गोपाल को मन के होने पर "मैं कर्ता हूँ भोक्ता हूं" यह प्रतीति होती है। उस प्रकार मैं ब्रह्म हूँ इत्यादि प्रतीति नहीं होती हैं। किन्तु कर्तृत्वादि बन्ध से मुक्त होने की इच्छा से प्रपंच से सतप्त पुरुष जब वेदांतनिष्ठ गुरु की शरण जाता है तब गुरु उसे उपदेश देते हैं कि तू ब्रह्म है अर्थात् निर्विकार कूटस्थ जगत्कारण ब्रह्म तू है। किन्तु कर्तृत्वादि धर्म विशिष्ट मेरा निर्विकारकूटस्थ जगत्कारण ब्रह्म के साथ ऐक्य सभव है ? इस आशंका की निवृत्ति के लिए गुरु शिष्य से कहते हैं कि तू शब्द यहां भाग लक्षणा से निरुपाधिक निर्विकार कूटस्थ जीव चेतन का बोधक है तथा ब्रह्म शब्द भी

जगत्कारणत्वरूप औपाधिक धर्म से रहित शुद्ध निर्विकार कूटस्थ ब्रह्म चैतन्य का बोधक है। अतः उभय पदों के लक्षार्थ में कोई विरोध न होने से दोनों की एकता है। तब मैं शब्द से निरूपाधिक निर्विकार कूटस्थ चेतन का उल्लेख करता हुआ उसके साथ शुद्ध ब्रह्म की एकता का मैं ब्रह्म हूँ ऐसा अभिलाप करता है।

भाव यह है कि भले ही अंतःकरण की विद्यमान दशा में मैं ब्रह्म हूं इत्यादि प्रतीतियां होती हैं तथापि एतादृशी प्रतीति वाला विद्वान् मैं शब्द का अर्थ, अन्तःकरण तथा उसके धर्मों से असंसृष्ट निर्विकार कूटस्थ आत्म चेतन मानकर उसके साथ शुद्ध ब्रह्म की एकता का अनुभव करता है। अतः उस प्रतीति में निर्विकार कूटस्थ आत्मा में ही ब्रह्मता का अनुभव करता है। अन्तःकरण में निर्विकारता तथा कुटस्थता ब्रह्मरूपता का अनुभव नहीं करता अतः उपरोक्त आपत्ति उपरोक्त वेदांत की प्रक्रिया को जाने बिना ही है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है एतादृश उपदेश के अभाव काल में आत्मा से भिन्न अन्तःकरण तथा अन्तःकरण से भिन्न आत्मा को जाने बिना परस्पर की अविवेक दशा में अन्तःकरण की विद्यमान दशा में मैं कर्ता हूँ मैं भोक्ता हूँ यह प्रतीति होती है। इस प्रतीति से सिद्ध कर्तृत्व भोक्तृत्व, अन्तःकारण की अभाव दशा में प्रतीत होते नहीं। तब यह विचार किया जाता है कि यह कर्तृत्व भोक्तृत्व दोनों आत्मा के धर्म हैं या अन्तःकरण के। यदि आत्मा के हैं तो स्वाभाविक हैं या अन्तःकरणादिक निमित्त से आत्मा में उत्पन्न होते हैं। यदि आत्मा के स्वाभाविक धर्म होते तो सुषुप्ति में अन्तःकरण के अभाव काल में भी प्रतीत होने चाहिए किन्तु उस काल में प्रतीत नहीं होते। अतः आत्मा के स्वाभाविक धर्म नहीं हैं ऐसाही निश्चय होता है।

यदि यह कहा जाए कि अन्तःकरण आदिक निमित्त से आत्मा में उत्पन्न होते हैं यह भी संभव नहीं। क्योंकि आत्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्व सुख दुःख इच्छा द्वेषादिक विकार उत्पन्न हुए माने जायेंगे तो विकारी हो आत्मा अनित्य ही हो जाएगा। किन्तु अनित्य आत्मा मानने में कृतनाश अकृताभ्यागमादि तो दोष होंगे ही सबसे प्रबल, श्रुति स्मृतियों से विरोध रूप दोष प्राप्त होगा। श्रुति आत्मा को नायं हन्ति न हन्यते इस वाक्य से हननादि से उपलक्षित सर्व क्रियाओं के प्रति कर्तृत्व के अभाव वाला ही कह रही है तथा न जायते म्रियतेवाविपश्चित् नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।

अजोनित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः इत्यादि वाक्य से आत्मा को नित्य कह रही है।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्तिकम् ॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ॥

स्मृति वाक्यों ने आत्मा को अविनाशी अजन्मा अव्यय नित्य तथा मारने या मरवाने की क्रिया का अकर्ता अविकारी अव्यक्त तथा अचिन्त्य ही बतलाया है। आत्मा में मन के सम्बन्ध से उत्पन्न कर्तृत्व भोक्तृत्व विकार मानने पर आत्मा के अनित्य स्वीकार किये जाने पर उक्त गीता वाक्य से विरोध रूप प्रबल दोष आयेगा। अतः आत्मा में मन के सम्बन्ध से उत्पन्न कर्तृत्व भोक्तृत्व को कथमपि निश्चित नहीं किया जा सकता।

अन्तःकरण से भिन्न आत्मा तथा आत्मा से भिन्न अन्तःकरण के ज्ञानाभाव दशा में परस्पर तादात्म्यापन्न दशा में अन्तःकरण के विद्यमान रहने पर प्रतीयमान कर्तृत्व भोक्तृत्व अन्त.करण के धर्म हैं यही सिद्ध होता है। क्योंकि कर्तृत्व भोक्तृत्व विकार जड़ होने से विकारी अन्तःकरण के ही धर्म सम्भव हैं। निर्विकार आत्मा के नहीं। यही पक्ष श्रुति स्मृति को भी स्वीकार है। क्योंकि **पुरुषस्य कर्तृत्व भोक्तृत्व सुख दुःखादि लक्षणाश्चित्त-धर्मः क्लेशरूपत्वात् बन्धो भवति"** यह मुक्तिको पनिषद् स्पष्ट रूप से सुख दुःख कर्तृत्व भोक्तृत्वादि को चित्त अर्थात् अन्तःकरण का ही धर्म कह रही है।

महाभूतान्य हङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च
इन्द्रियाणि दशैकं चपंच चेन्द्रियगोचराः ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकार मुदाहृतम् ॥
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥
पुरुषः प्रकृतिस्थोहि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।

उपरोक्त गीतास्मृति वाक्यों ने महाभूत, अहंकार, बुद्धि अव्यक्त, एकादश इन्द्रियां तथा पंच विषय इच्छा द्वेष सुखदुःख संघात तथा वृत्तिनिष्ठ चैतन्याभास रूप चेतना इन सर्व को क्षेत्र अर्थात् अनात्मा तथा बुद्धि आदि का विकार इच्छा

सुख दुःखादिक को कहा है। एवमेव सर्व कर्मों को प्रकृति का किया हुआ तथा आत्मा को अकर्ता जानने वाले को ही यथार्थ ज्ञाता कहा है। प्रकृति के कार्य भूत मन बुद्धि देहेन्द्रियादिक अनात्म पदार्थों में स्थित अर्थात् इन के साथ तादात्म्यभाव को प्राप्त होकर ही सुख दुःख आदि का भोक्ता पुरुष होता है। यह कहकर आत्मा को अभोक्ता ही सिद्ध किया है।

उपरोक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि न तो अन्तःकरण का धर्म कूटस्थत्व ब्रह्मत्व ही सभव है न कर्तृत्व भोक्तृत्व आत्मा के। प्रत्युत आत्मा ही निर्विकार तथा कूटस्थ है। कर्तृत्व भोक्तृत्वादि अन्तःकरण के धर्म हैं।

उपरोक्त निर्णय में लेखक को यह आपत्ति है कि "व्यष्टि बुद्धि में ही कर्तृत्व भोक्तृत्व ज्ञातृत्व मान लेने पर सम्पूर्ण व्यवहार का निर्वाह हो जाने के कारण जड़ से पृथक् चेतन आत्मा मानने की क्या आवश्यकता है? एवं समष्टि बुद्धि रूप प्रकृति भी जगत् का कर्ता हो सकेगी। अतः जड़ प्रकृति से भिन्न चेतन ईश्वर को मानने की क्या आवश्यकता है?

यह आपत्ति भी वेदान्त के सिद्धान्त का मनन न करने के ही कारण है। **योऽप्सुतिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरः योऽपोऽन्तरः यमयति। भीषाऽस्माद्वातः पवते। भीषो देति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पंचमः।** इत्यादिक श्रुतियां चेतन से अधिष्ठित ही सर्व जड पदार्थों में क्रिया कह रही हैं।

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

इत्यादिक गीता स्मृतियां भी अध्यक्षभूत भगवान् से अधिष्ठित प्रकृति से ही चराचर जगत् का सर्जन कह रही हैं। **प्रवृत्तेश्च।** सू० २-२-२ **पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि** ब्र० सू० २-२-३। इत्यादि सूत्र भी केवल जड़ में नहीं अपितु चेतन से अधिष्ठित ही जड़ में क्रिया सिद्ध कर रहे हैं। जैसे जड़ रथादि की क्रिया चेतन के बिना संभव नहीं उसी प्रकार जड़ जगत् की कोई भी क्रिया या परिणति चेतन के बिना संभव नहीं। यह युक्ति भी चेतन के बिना केवल जड़ में क्रिया नहीं यही सिद्ध करती है।

भाष्यकार लिखते हैं कि '**नहि मृदादयोरथादयोवा स्वयमचेतनाः सन्तश्चेतनैः कुलालादि भिरश्वादिभिर्वाऽनधिष्ठिता विशिष्ट कार्याभिमुख प्रवृत्तयोदृश्यंते**"। चेतन कुलाल तथा अश्वादि से अनधिष्ठित मृद एवं रथादि विशिष्ट कार्याभिमुख प्रवृत्ति वाले नहीं देखे जाते। अतः जड़ की प्रवृत्ति चेतना-

धीन ही मानना उचित है। भाव यह है कि उपरोक्त वेदान्त प्रस्थान भूत श्रुति, स्मृति, ब्रह्म सूत्र तथा भाष्य चेतन के बिना जड़ में कोई क्रिया संभव नहीं। अतः समष्टि व्यष्टि जड़ तत्व में क्रिया के लिए चेतन तत्व स्वीकार करना ही पड़ेगा।

यदि उपरोक्त वेदांत प्रस्थान का साधारण भी मनन किया होता तो जड का धर्म ही कर्तृत्व है ऐसा मानने पर चेतन की क्या आवश्यकता। वेदान्तियों के प्रति ऐसी आपत्ति देने का साहस लेखक का न होता। अतः जड़ पदार्थों में क्रियादि की सिद्धि के लिए चेतन मानना आवश्यक है।

लेखक की आगे लिखो आपत्तियों का भावार्थ तथा उनका उत्तर लिखते हैं। लेखक का कहना है कि वेदान्ती का जो यह कथन है कि यदि आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व मानने पर अनिर्मोक्ष की आपत्ति हो जाएगी। सो आपत्ति आत्मा के धर्म कर्तृत्व भोक्तृत्व स्वाभाविक मान लेने पर भी नहीं आयगी? क्योंकि जैसे दाहक अग्नि तथा दाह्य काष्ठादि उभयविध पदार्थों के विद्यमान रहने पर भी यदि उनका संयोग नहीं होता तो दाह भी नहीं होता। उसी प्रकार आत्मा में कर्तृत्वादि शक्ति या योग्यता रहने पर भी अज्ञान तथा अदृष्टादि रूप, अन्तःकरण इन्द्रियादि के संयोग के कारण का अभाव होने पर कर्तृत्वादि कीउत्पत्ति न होने से मुक्ति की सिद्धि में कोई आपत्ति संभव नहीं है।

यह कहना भी उचित नहीं क्योंकि आत्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्व मानने वालों के मत में विवेकाभाव या ज्ञानाभाव का ही नाम अज्ञान है। मुक्तावस्था में ज्ञान या विवेक न रहने पर अज्ञान या अविवेक रहता है तथा कर्तृत्व भोक्तृत्व की योग्यता वाला आत्मा भी विद्यमान है तथा मन भी विद्यमान है। मन आत्मा के संयोग का कारण अज्ञान या अविवेक जब मुक्तावस्था में भी मान्य है तब पुनः सयोग क्यों न होगा? संयोग होने पर पुनः कर्तृत्वादिक क्यों न प्राप्त होगे। अतः अनिर्मोक्ष की आपत्ति से मोक्ष कथंचिदपि संभव नहीं है

उपरोक्त कथन में लेखक पुनः यह कथन करते हैं कि "यदि कहें कि कर्तृत्व भोक्तृत्व की योग्यता विद्यमान होने पर पुनः कभी बन्धन हो जाएगा तो ऐसी आशंका आपके सिद्धान्त की भी विघातक होने से नहीं करनी चाहिए। क्योंकि यदि आत्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्वरूप बन्ध के अध्यास

की योग्यता है तो पुनः बन्ध का अध्यास हो जाएगा।" यह शंका आपके पक्ष में भी की जा सकती है। इत्यादि।

इस कथन का कारण है वेदांतरीत्या अध्यास शब्द के अर्थ की अनभिज्ञता। अध्यास शब्द का अर्थ है भ्रान्ति ज्ञान तथा उसका विषय भूत-पदार्थ। वे दोनों ही वेदान्त में अविद्या के उपादेय (कार्य) हैं। जो कार्य जहां होता है उसकी योग्यता भी वहीं होती है। जैसे आत्मकर्तावादी के मत में कर्तृत्व आत्मा में उत्पन्न होता है तो उसकी योग्यता भी आत्मा में ही है। जैसे तन्तु में पट उत्पन्न होता है तो उसकी योग्यता भी तन्तुओं में ही है। उसी प्रकार अविद्या में उत्पन्न होने वाले भ्रान्ति ज्ञान तथा उसके विषय भूत प्रपंच की योग्यता भी अविद्या में है न कि आत्मा में। अतः ज्ञान से अविद्या के नष्ट हो जाने पर बन्धनाध्यास कैसे संभव है ?

बन्ध का कारणभूत अज्ञान नष्ट हो गया इसलिए पुनः अध्यास नहीं होगा। ऐसा वेदान्ती ने जो कहा तो हमारे मत में भी यह उत्तर दे दिया गया है कि बन्ध के कारण अज्ञान सहित धर्म अधर्म रूप अदृष्ट का विनाश हो जाने से पुन: बन्ध नहीं हो सकेगा।

यह कथन भी उचित नहीं क्योंकि आपके मत में बन्ध अर्थात् कर्तृत्व भोक्तृत्व सुख दु:ख धर्माधर्मादि बन्ध का उपादान कारण अविद्या नहीं हैं किन्तु आत्मा है। उसी में बन्ध की योग्यता है। सो आत्मा आपके अभिमत मोक्ष में विद्यमान है ही। अनित्य होने से उत्पन्न हुए ज्ञान का अभावरूप अज्ञान भी विद्यमान है ही। धर्माधर्म तो स्वयं बन्धन रूप ही हैं। अतः उनको बन्धन के मुख्य कारण अज्ञान की समता कथमपि नहीं दी जा सकती। ज्ञान का प्रागभाव ही अज्ञान है। प्रध्वंसाभाव अज्ञान नहीं है। इसका कोई नियामक नहीं। अतः आपके मत में उपादान कारण आत्मा तथा निमित्तकारण अज्ञान तथा मन के विद्यमान होने से बन्धन पुनः कैसे नहीं उत्पन्न होगा। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि बन्धन के कारण के नाश हो जाने से पुन: बन्धन नहीं हो सकेगा।

उपरोक्त विवेचन से कर्तृत्व के प्रति अन्तःकरण को करण न होने से प्रत्युत कर्तृत्व भोक्तृत्व के प्रतिधर्मी होने से अन्तःकरण रूप उपाधि के सम्बन्ध से आत्मा में औपाधिक कर्तृत्व भोक्तृत्व है। यह सहज में ही सिद्ध हो जाता है।

उपरोक्त कथन में लेखक को यह आपत्ति है कि ज्ञान से अज्ञान के

नष्ट हो जाने पर अज्ञान के कार्य होने से कर्तृत्व भोक्तृत्व की पूर्ण निवृत्ति हो जाने पर आप (वेदान्ती) को संमत बाधितानुवृत्ति कथमपि संभव नहीं। यदि कहा जाए कि प्रारब्धरूप प्रतिबन्ध के कारण अज्ञान लेश शेष रह जाता है उस से बाधितानुवृत्ति संभव है। तो वेदान्ती का यह कहना ठीक नहीं सम्पूर्ण कार्य के उपादान अज्ञान के नाश हो जाने पर प्रारब्ध का शेष रहना किसी प्रकार संभव नहीं।

लेखक का यह कहना भी उचित नहीं क्योंकि अज्ञान की आवरण तथा विक्षेप शक्तियों में से प्रारब्ध से प्रतिबद्ध ज्ञान से आवरण शक्ति मात्र का नाश होने से प्रारब्ध के कारणभूत अविद्या लेश का वाच्यविक्षेप शक्ति से बाधितानुवृत्ति संभव है। सम्पूर्ण अज्ञान के नाश होने पर प्रारब्ध का शेष रहना संभव न होने पर भी पूर्व ही प्रारब्ध से प्रतिबद्ध ज्ञान से सम्पूर्ण अर्थात् विक्षेप शक्ति के सहित अज्ञान का नाश न होने से प्रारब्ध के अवशेष को हटाने में कौन समर्थ है ?

पुनः लेखक का यह कहना भी उचित नहीं कि इस मत में यह प्रश्न भी उठ सकता है कि जीवन के अन्तिम क्षण में भी तत्वज्ञान का उदय होना सुनिश्चित नहीं। अतः मुक्ति संदिग्ध हो जाएगी।

प्रबल प्रमाण से उत्पन्न तत्व ज्ञान जीवन के अन्तिम क्षणों में अविद्या लेश की निवृत्ति के योग्य अवश्य रहेगा। क्योकि उसका प्रतिबन्धक प्रारब्ध अब समाप्त हो चुका है।

लेखक ने आत्मा के स्वाभाविक कर्तृत्व भोक्तृत्व विषयक कोई श्रुति स्मृति प्रमाण उपस्थित नहीं किया तथा अहंकर्ता अहं भोक्ता इस अनुभूति को अन्यथा उपपन्न हो जाने से लेखक का आत्मा में कर्तृत्वभोक्तृत्व स्वाभाविक है। यह पक्ष श्रुति स्मृति तथा विद्वानों की अनुभूति से विरुद्ध है। हमने स्वाभाविक कर्तृत्वभोक्तृत्व के अभाव बोधक तथा अन्तःकरण के धर्म-कर्तृत्व भोक्तृत्व, बोधक श्रुति स्मृति वाक्य प्रमाण दिये हैं। अतः आत्मा में स्वभाव से अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व एवं अन्तःकरण रूपोपाधि के सम्बन्ध से औपाधिक कर्तृत्व भोक्तृत्व पक्ष, श्रुति स्मृति से सम्मत होने से मान्य है।

कर्तृत्वादि समन्वय विचार

लेखक ने कर्तृत्व भोक्तृत्व के समन्वय के जो तथ्य निकाले हैं उनके प्रदर्शन पूर्वक उन पर विचार उपस्थित करते हैं।

१. अन्तःकरण आदि का सम्बन्ध होने पर ही जाग्रत और स्वप्न अवस्था में विशेष रूप से स्पष्ट कर्तृत्व भोक्तृत्व का अनुभव होता है। इसी से सर्व व्यवहारों की व्यवस्था सम्पन्न होती है। यह सभी को मान्य है।

विवेचन—लेखन कार्य से पूर्व तथा पश्चात् लेखक से भिन्न लेखनी का स्पष्ट अनुभव होने से कहा जा सकता है कि लेखनी के सम्बन्ध से लेखन होता है यह सर्व को सम्मत है। परन्तु कर्तृत्व से पूर्व तथा पश्चात् कर्ता से भिन्न अन्तःकरण का स्पष्ट अनुभव न होने से यह नहीं कहा जा सकता कि अन्तःकरण के सम्बन्ध से जाग्रत तथा स्वप्न अवस्था में विशेष रूप से स्पष्ट कर्तृत्व भोक्तृत्व का अनुभव होता है यह सर्व सम्मत है क्योंकि कर्तृत्व से पूर्व तथा पश्चात् अन्तःकरण का किसी कर्ता नामक तत्व से भिन्न अनुभव नहीं होता। अतः अन्तःकरण के सम्बन्ध से नहीं अपितु उसके होने पर ही कर्तृत्व होता है यही कहना उचित है। अतः चेतनाऽध्यस्तान्तःकरण में ही स्पष्ट अनुभूत कर्तृत्व भोक्तृत्व उत्पन्न होते हैं। ऐसा वेदान्ती की मान्यता होने से लेखकोक्त प्रथम तथ्य सर्वमान्य नहीं। अतः सर्वदर्शन समन्वय में उपयोगी भी नहीं।

२. मुक्त अवस्था में सभी मतों को उक्त विशेष स्पष्ट कर्तृत्व भोक्तृत्व मान्य नहीं।

लेखक का उक्त कथन ऐसा है जैसे कोई कहे कि मृत शरीर में सभी को क्रिया मान्य नहीं। जिसका अभिप्राय यह है कि जीवित शरीर में क्रिया तथा मृत शरीर में क्रिया का अभाव सर्वमान्य है। उसी प्रकार लेखक के कथन का भी यही भाव संभव है कि बन्ध दशा में आत्मनिष्ठ कर्तृत्व सर्वमान्य तथा मोक्ष दशा में विशेष कर्तृत्व भोक्तृत्व मान्य नहीं। उनके वाक्य में कर्तृत्व भोक्तृत्व का विशेष स्पष्ट विशेषण यह भी बोधन करता है कि अस्पष्ट तथा सामान्य कर्तृत्व भोक्तृत्व का अभाव सर्व को मान्य नहीं।

उपरोक्त प्रकार से लेखक के द्वितीय तथ्य वाक्य में "मुक्त अवस्था में" इस भाग तथा "उक्त विशेष स्पष्ट इस कर्तृत्व भोक्तृत्व विशेषण पर विचार किये जाने पर लेखकोक्त वाक्य का यह निम्न लिखित अर्थ निष्पन्न होता है। 'बद्धावस्था में आत्मनिष्ठ कर्तृत्व भोक्तृत्व तथा मुक्ति अवस्था में

विशेष स्पष्ट कर्तृत्व भोक्तृत्व का अभाव सर्वमान्य है। अस्पष्ट कर्तृत्व भोक्तृत्व सामान्य का अभाव सर्वमान्य नहीं।" एतदर्थक उक्त वाक्य से ही दर्शनों की मान्यताओं में भेद प्रतीत हो रहा है, क्योंकि वेदान्त बद्धावस्था में कर्तृत्व भोक्तृत्व आत्मा में नहीं मानता। न मुक्त अवस्था में कर्तृत्वादि सामान्य ही मानता है। जबकि न्यायादि की मान्यता ठीक उस के विपरीत है बद्धावस्था में आत्मनिष्ठ कर्तृत्व भोक्तृत्व मानना तथा मुक्तावस्था में कर्तृत्व भोक्तृत्व सामान्य (योग्यता) का मानना। यद्यपि न्याय शास्त्र कर्तृत्व भोक्तृत्व सामान्य (योग्यता) को आत्मा में बद्धावस्था में मानता है। न मुक्ति अवस्था में। क्योंकि न्यायशास्त्र तो बद्धावस्था में कर्तृत्व भोक्तृत्व का प्रागभाव मानता है। यदि लेखक कहें कि हम इस प्रागभाव कोटी कर्तृत्वादि सामान्य या योग्यता मानते हैं। इस पर हमारा कहना है कि न्याय शास्त्र मोक्ष में इसे नहीं मानता। अतः मुक्तावस्था में न्यायादि के द्वारा जो आत्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्व सामान्य (योग्यता) का मानना हमने लिखा है वह लेखक के कथनानुसार है। वस्तुतः नहीं। ऐसी दशा में उपरोक्त द्वितीय तथ्य वाक्य सर्वदर्शनों की मान्यताओं में भेद का बोधक होने से सर्वदर्शन समन्वय का उपयोगी किसी प्रकार भी संभव नहीं है।

३. आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व भोक्तृत्व की योग्यता है। इस न्यायादि के मत में तथा आत्मा में अध्यारोपित कर्तृत्व भोक्तृत्व की अधिष्ठान रूप योग्यता है। इस वेदान्त के मत में भी पुनर्बन्ध की आशंका और उसका समाधान दोनों समान ही हैं।

लेखक के उपरोक्त विचार को पढ़कर तो ऐसा प्रतीत होता है मानों वे सर्प के अवयवों में स्वाभाविक सर्प की योग्यता तथा अध्यस्त सर्प की रज्जु में अधिष्ठानत्व की योग्यता को एक मान रहे हैं। परन्तु सामान्य मनुष्य भी इनमें आताल पाताल का अन्तर मानकर यही अनुभव करता है कि सर्प के अवयवों में सर्प उत्पन्न हुआ है तथा है किन्तु रज्जु में सर्प न तो उत्पन्न हुआ है और न है ही।

वास्तविक योग्यता (शक्ति) अवश्यमेव पुनः पदार्थों को उत्पन्न करने में दक्ष है। अविद्याकृत अधिष्ठानता अविद्या के नाश होने पर कथमपि स्थित नही रह सकती। पुनः स्वकार्य उत्पन्न करने में दक्ष नहीं इसका तो कहना ही क्या ?

४. केवल जड़ अन्तःकरण आदि अनात्मा में तथा केवल आत्मा से

विशेष स्पष्ट कर्तृत्व भोक्तृत्व सिद्ध न होने के कारण परिशेष न्याय द्वारा ही सभी ने अपने अपने मत की सिद्धि की है।

लेखक के इस तथ्य वाक्य में यह न्यूनता है कि श्रुति के अनुकूल परिशेष न्याय जिस मत का पोषक होगा वह मत ही मान्य होगा। अन्य मत अमान्य होंगे। मान्य अमान्य का समन्वय कथमपि संभव नहीं।

हमारा नम्र निवेदन यह है कि तथाकथित उक्त समन्वय तथ्य तो पूर्वोक्त विवेचन से अतथ्यरूप सिद्ध हो गए हैं। अतः व्यवहार अवस्था मुक्त अवस्था पुनः बन्ध का अभाव एवं परिशेष न्याय जब समान रूप से सर्वमतों में सिद्ध नही तब लेखकोक्त समन्वय से विवाद कैसे निवृत्त हो सकता है? अतः अस्मदुक्त समन्वय से ही समन्वय विषयक विवाद समाप्त होगा अन्यथा नहीं।

लेखक ने कुछ भाष्य पंक्तियों का उल्लेख करते हुए यह कहा है कि जड़ अन्तःकरण मे वेदान्त ने कर्तृत्व भोक्तृत्व का अध्यारोप ही किया है। अतः जड़ अन्तःकरण में वेदान्त को भी कर्तृत्व भोक्तृत्व सिद्ध करना इष्ट नहीं हैं।

भाष्य पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं "नेयं श्रुतिरचेतनस्य सत्वस्य (अन्तकरणस्य) भोक्तृत्वं वक्ष्यामिति प्रवृत्ता, किं तर्हि? चेतनस्य क्षेत्रज्ञस्या भोक्तृत्वं वक्ष्यामि तदर्थं सुखादि विक्रियावति सत्वे भोक्तृत्वमध्यारोपयति। परमार्थतस्तु नान्य तरस्यापि संभवति अचेतनत्वात्सत्वस्य, अविक्रियत्वात् च क्षेत्रज्ञस्य। अविद्या प्रत्युपस्थापितस्वभावत्वाच्च सत्वस्य सुतरां न संभवति"। ब्र० सू० शांकरभाष्य १-२-१२।

उपरोक्त पंक्तियों का लेखकोक्त अर्थ—यह श्रुति अचेतन=जड़ अन्तःकरण में कर्तृत्व भोक्तृत्व सिद्ध करने के लिए प्रवृत्त नहीं हुई किन्तु चेतन क्षेत्रज्ञ के अकर्तृत्व अभोक्तृत्व का प्रतिपादन करने के लिए प्रवृत्त हुई है। उसके लिए सुखादि विकार वाले अन्तःकरण में कर्तृत्व भोक्तृत्व का अध्यारोप करती है।

षड् दर्शनों में अबाधगतिक वाचस्पति जैसे विद्वान जिस भाष्य को "भाष्यं प्रसन्न गम्भीर" गम्भीर बताते हैं उस भाष्य को विहंगम दृष्टि से पढ़कर उस पर लेखनी उठाने का साहस लेखक ने किया है। अतएव सम्प्रदायानुसार भाष्य के अर्थों का परित्याग कर मनमाना अर्थ करते हैं। "यह श्रुति अन्तःकरण में कर्तृत्व भोक्तृत्व को कहने को प्रवृत्त नहीं हुई। अन्तः

करण में कर्तृत्व भोक्तृत्व का अध्यारोप करती है।' इन शब्दों से लेखक स्वमत को सिद्ध करना चाहते हैं। किन्तु भाष्य पंक्ति का अर्थ है श्रुतियां मुख्य रूप से कर्तृत्व भोक्तृत्व को अन्तःकरण का धर्म बताने के लिए प्रवृत नहीं हुई। किन्तु मुख्य रूप से तो चेतन क्षेत्रज्ञ में अकर्तृत्व भोक्तृत्व बताने के लिए प्रवृत्त हुई है। क्योंकि एक श्रुति के मुख्य रूप से प्रतिपादित दो विषय मान लिए जायेंगे तो वाक्य भेद रूप दोष आ जाएगा। जो वाक्य भेद वेद के वाक्यों के अर्थ में आने पर महान् दोष माना जाता है। अतः श्रुति अमुख्य रूप से ही सुखादि विकार वाले अंतःकरण के ऊपर कर्तृत्व भोक्तृत्व को (अधिरोपयति) स्थापित करती है कि ये अन्तःकरण के हैं। आरोप शब्द का अर्थ केवल अध्यास ही नहीं होता जैसा कि वृक्षारोप किया जा रहा है इस प्रयोग में आरोप शब्द का अर्थ लगाना या स्थापित करना भी है। अतः इन भाष्य पंक्तियों से यह सिद्ध होता है कि कर्तृत्व भोक्तृत्व अन्तःकरण के धर्म हैं।

किन्तु यह मान भी लिया जाए कि यह श्रृति कर्तृत्व भोक्तृत्व को अन्तःकरण का धर्म बताने प्रवृत्त नहीं हुई तो क्या एक श्रुति के ऐसा बोधन करने को प्रवृत्त न होने पर वह सारे वेदांत का सिद्धांत हो जायगा। जैसा कि हम प्रकरण के प्रारम्भ में लिख चुके हैं कि अन्य श्रुतियां स्पष्ट रूप से अन्तःकरण का धर्म कर्तृत्व भोक्तृत्व बता रही हैं। लेखक के हृदय में उन की मान्यता क्यों नहीं? यदि यह कहें कि वे अन्तःकरण में आरोपित हैं। तब प्रश्न यह होता है कि लेखक अब तक एक भी श्रुति वाक्य ऐसा नहीं दे सके हैं जिसमें स्पष्ट रूप से यह कहा गया हो कि कर्तृत्व भोक्तृत्व अन्तःकरण के धर्म नहीं अपितु उसमे आरोपित हैं। यह कहें कि भाष्य पंक्ति कह रही है। तब इस पर तो हमारा कहना यह है कि लेखक जो अर्थ समझे अथवा लिख रहे हैं वह भाष्य पंक्ति का अर्थ ही नहीं। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं वास्तविक कर्तृत्व भोक्तृत्व हमको किसी में मान्य नहीं। क्योंकि वास्तविक तत्व आत्मा है। निर्विकार होने से आत्मा के वास्तविक धर्म कर्तृत्व भोक्तृत्व सम्भव नहीं। जब आत्मा से भिन्न कोई भी वास्तविक पदार्थ अन्तःकरणादि हैं ही नहीं तो उसके धर्म भी वास्तविक कैसे सिद्ध हो जायेंगे। अतः भाष्य तात्पर्य बिना समझे ही उक्त मान्यता है।

उक्त विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि अन्तःकरण के संबंध होने पर नहीं किन्तु अन्तःकरण के होने पर अन्तःकरण के ही कर्तृत्व भोक्तृत्व धर्म आत्मा

में आरोपित होते हैं। आत्मा में सामान्य रूप से भी कर्तृत्व भोक्तृत्व संभव नहीं। आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व मानने पर मोक्ष असंभव है। कर्तृत्व भोक्तृत्व का अधिष्ठान आत्मा को मानने में कोई आपत्ति नहीं। निरूपाधिक आत्मा में तथा उपाधिरूप से अनभिमत बुद्धि में असम्भव होने पर भी सोपाधिक आत्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्व धर्म हैं। अतः वे विकारी उपाधिभूत बुद्धि के ही धर्म हैं निर्विकार आत्मा के नहीं। ऐसा श्रुतियों का तथा भाष्यकार का तात्पर्य है।

मायावाद-मण्डन

यद्यपि लेखक ने स्वरचित ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में "मायावाद का खण्डन" तथा 'मायावाद सिद्धि के पांच प्रकार" ये दो प्रकरण क्रम से लिखे हैं। जिन में से प्रथम प्रकरण में माया के खण्डन के लिए जो आक्षेप किये हैं उनका कोई भी समाधान दिये बिना ही द्वितीय प्रकरण में पांच युक्तियों से माया को सिद्ध किया है। तथापि लेखक के ग्रंथ को पढ़कर ऐसी भ्रांति होना स्वाभाविक है कि वेदांतियों पर माया खंडन के लिए दिये हुए आक्षेपों का कोई समाधान नहीं है। इस भ्रांति के निवारणार्थ एवं लेखक को अपने समन्वय की सचाई में गंभीरता से प्रवेशनार्थ उक्त आक्षेपों का समाधान सम्प्रदायानुसार लिखते हैं।

घटः सन् (घट है) पटः सन् (पट है) इत्यादिक अनुभवों से सर्वकार्यों में सन् अनुस्यून है। यह निर्विवाद सिद्ध है कि कार्यों में उपादान कारण ही अनुस्यूत होता है। इसलिए सन् ही जगत् रूप कार्य का उपादान कारण है। वह सन् ब्रह्म रूप ही है। क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त सभी पदार्थ कार्य होने से असत् अर्थात् मिथ्या हैं। इस प्रकार मिथ्या जगत का सत् ब्रह्म ही माया द्वारा अधिष्ठान रूप विवर्ती उपादान कारण है। यह सिद्ध होता है।

भाव यह है कि अनेक सर्पदण्ड तथा जलधारा आदिक पदार्थों में तादात्म्य रूप से अनुस्यूत एक रज्जु सत्य है। तादृश अनुस्यूत एक रज्जु में सर्पादिक अनेक पदार्थ मिथ्या प्रकार प्रपंच के विविध पदार्थों में तादात्म्यरूप से है सबों एक सत् पदार्थ अनुस्यूत है। वह सत् स्वरूप ब्रह्म ही सत्य है। अन्य सर्व प्रपंच पदार्थमिथ्या है। यह सिद्ध होता है। मिथ्या वस्तु माया का ही कार्य सम्भव है। अतः संसार की प्रतीति का कारण माया अर्थतः सिद्ध हो जाती है। अतएव श्रुति कहती है "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" माया को संसार का कारण जानो।

आक्षेप

यह सर्व कथन ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्म सत् इस प्रकार ब्रह्म में भी सत् अनुस्यूत होने के कारण ब्रह्म को भी सत् से भिन्न असत्=मिथ्या मानना पड़ेगा। यदि कहो 'राहोः शिरः' की तरह ब्रह्म सत् में ब्रह्म और सत् का अभेद ही है भेद नहीं, तो यह कथन भी उचित नहीं. क्योंकि घट सत् और ब्रह्म सत् इन दोनों अनुभवों में भेद न होने पर भी घट से सत् का भेद मानना और ब्रह्म से सत् का अभेद मानना युक्ति संगत नहीं।

आक्षेप का भावार्थ

भाव यह है कि यदि स्वरूप से घट को सत् (सत्य) न माना जाएगा, तो घटः सत् इस प्रतीति के तुल्य ही ब्रह्म सत् ऐसी प्रतीति होने से ब्रह्म भी स्वरूप से सत्य सिद्ध नहीं होगा। वेदान्ति को ब्रह्म स्वरूप से असत् (मिथ्या) स्वीकार नहीं, तब उक्त प्रतीति के आधार पर घट को भी मिथ्या स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः सत्य घट के लिए माया कारण मानने की भी आवश्यकता नहीं।

समाधान

यदि घट पटादिक सर्व पदार्थों में स्वरूप भूत ही सत्व माना जाय, तो सर्व पदार्थों का स्वरूप भिन्न भिन्न होने के कारण सर्व पदार्थों में स्वरूप भूत सत्व भी भिन्न-भिन्न सिद्ध होगा। अतः घटः सत् पटः सत् इत्याकारक समान प्रतीति का विषय, पदार्थों का स्वरूप भूत सत्व, कदापि होना संभव नहीं। एकाकार प्रतीति का विषय होने से सर्व पदार्थों में घटत्वादि जाति के सदृश एक ही सत्व मानना उचित है। वेदान्ती तो ऐसा मानते हैं कि ब्रह्म स्वरूप से ही सत् है। उसका सर्व पदार्थों में तादात्म्य होने से घटादिकों में भी ब्रह्म का स्वरूप भूत सत्व ही प्रतीत होता है। ब्रह्म से भिन्न सत्ता जाति रूप सत्व मानकर उसको घटः सत् पटः सत् इस समान प्रतीति का विषय माना जाय तो गौरव होगा। क्योंकि एक ब्रह्म सत्व द्वितीय सत्ता जातिरूप सत्व मानना वेदान्ती को अभीष्ट नहीं, क्योंकि ब्रह्मसत्व का ही तादात्म्य सम्बन्ध से सर्वत्र पदार्थों में अनुवेध मानने पर भी घटः सत् पटः सत् इन प्रतीतियों का निर्वाह हो जाने से घटादिकों में ब्रह्मातिरिक्त सत्व मानने की कोई अपेक्षा नहीं।

यदि कहा जाय कि ब्रह्म से भिन्न सत् मानने पर तो गौरव की प्राप्ति होगी, किन्तु ब्रह्म को भी स्वरूप से सत् न मानकर, सत्ता जाति रूप सत्व

ही उसमें स्वीकार करने पर तो गौरव प्राप्त नहीं होगा। ऐसा मानना भी उचित नहीं क्योंकि यदि कोई पदार्थ स्वरूप से सत् नहीं माना जायगा तो सत्ता जाति भी स्वरूप से सत्य न होने पर उसके सत्य होने के लिए सत्ता जाति माननी होगी। स्वयं को ही स्व का आश्रय मानने में आत्माश्रय, अन्य सत्ता मानने में अन्योन्याश्रयादि दोष प्राप्त होंगे। इन दोषों के निवारणार्थ यदि सत्ता को स्वरूपतः सत्य माना जायगा, तो **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** इत्यादिक श्रुतियों से विरोध होगा। क्योंकि श्रुतियां ब्रह्म को ही सत्य कह रहीं हैं।

सत् का अनुवेध मानकर ब्रह्म को भी मिथ्या कहने वाले विद्वान् से यह प्रश्न तो हो ही सकता है कि वह सत् पदार्थ जिसके अनुवेध से ब्रह्म सत् प्रतीत होता है, ब्रह्म से अतिरिक्त है या ब्रह्म ही है? यदि अतिरिक्त है तो उसमें भी सत् इस प्रकार की प्रतीति किसी अन्य सत् के अनुवेध से है, या स्वरूप भूत सत्व से, यदि अन्य सत् के अनुवेध से है तो पुनः उस अन्य में भी अन्य के, और उसमें भी अन्य के अनुवेध से सत् ऐसी प्रतीति मानने में अन्यो न्याश्रयादि दोष प्राप्त होंगे। इन दोषों के निवारणार्थ, ब्रह्म से अतिरिक्त उस पदार्थ को स्वरूपतः सत् मानकर उसमें तथा उसके अनुवेध से अन्य पदार्थों में सत् सत् इस प्रतीति का निर्वाह मानने पर, इस स्वपक्ष में स्वदत्त सर्व आपत्तियां लेखक को भी प्राप्त होंगी। तथा **सदैव सौम्येदमग्र आसीत् एक मेवाद्वितीयं ब्रह्म** इत्यादि श्रुतियों का विरोध भी प्राप्त होगा।

श्रुति विरोध के निवारणार्थ, यदि लेखक ब्रह्म को स्वरूपतः सत्य माने तथा ब्रह्म के स्वरूप भूत सत्व से ही ब्रह्म सत् ऐसी ब्रह्म विषयक प्रतीति, तथा ब्रह्म सत्व के अनुवेध से घटः सन् पटः सन् इत्याकारक घट पटादि विषयक प्रतीति मानें तो लेखक के किये आक्षेपों का कोई भी अवकाश नहीं रहेगा।

जब ब्रह्म को ही स्वरूप से सत् मानकर उसमें तथा उपादान होने से सर्व पदार्थों में ब्रह्म का अनुवेध मानकर सद्विषयक एकाकार प्रतीति संभव हो सकती है, तब उसके लिए भिन्न सत्ता नामक स्वरूप से सत् पदार्थ कल्पना करने की भी क्या आवश्यकता।

अब यह प्रश्न शेष रह जाता है कि घटः सन् ब्रह्म सत् इस समान प्रतीति का विषयभूत सत्व, ब्रह्म में स्वरूप से तथा अन्य घटादिकों में ब्रह्म तादात्म्य से है यह कैसे?

इसका उत्तर यही है कि जैसे यह रज्जु है, इस प्रतीति से सिद्ध इदंत्व (यहपना) रज्जु में स्वतः कहिये स्वरूप से है। उसी रस्सी में कल्पित सर्प में यह सर्प है इस प्रतीति से इदंत्व (यह पना) रज्जु के तादात्म्य से है। उसी प्रकार ब्रह्म में सत्व स्वतः तथा घटादिकों में ब्रह्म तादात्म्य से है।

द्वितीय आक्षेप

निर्गुण निर्विशेष निर्विकार कूटस्थ ब्रह्म तत्व, जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकता, क्योंकि जो तत्व कार्य का आरंभ न कर सके या कार्य रूप में परिणत न हो सके वह जगत् का उपादान कारण कैसे हो सकता है। यदि कहें माया (अज्ञान) द्वारा निर्विकार कूटस्थ ब्रह्म भी जगत् का अधिष्ठान रूप, विवर्तोपादान कारण हो सकता है तो यह उत्तर भी ठीक नहीं। क्योंकि ज्ञान रूप ब्रह्म में अज्ञान या अविद्या रूप माया का होना प्रकाश रूप सूर्य में अन्धकार होने के सदृश किसी प्रकार संभव नहीं।

समाधान

सूर्य में अन्धकार का असंभव इसलिए है कि सूर्य में अन्धकार का किसी मनुष्य को अनुभव नहीं। किन्तु "घटमहं न जानामि" घट को मैं नहीं जानता यह घटविषयक अज्ञान का अनुभव सर्वजनीन है। अनुभव ज्ञान का ही पर्याय है। जब घट का अज्ञान, स्वविषयकज्ञान से प्रकाशित हो रहा है तब यह कैसे कहा जा सकता है कि सूर्य में अन्धकार के सदृश ज्ञान स्वरूप ब्रह्म में अज्ञान (माया) सर्वथा असंभव है। अतः जैसे प्रकाश से प्रकाशित घट का विरोध प्रकाश से नहीं है, वैसे ही जिस अनुभव (ज्ञान) से अज्ञान प्रकाशित है, उस ज्ञान स्वरूप ब्रह्म से अज्ञान का भी विरोध नहीं। अतएव अज्ञान से ब्रह्म का जगदुपादान कारण होना भी असंभव नहीं। अपितु संभव ही है।

तृतीय आक्षेप

अज्ञान विशिष्ट जीव को अज्ञान का आश्रय मानने पर अज्ञान का आश्रय कोटि में प्रवेश हो जाने के कारण आत्माश्रय दोष होगा, यदि कहें अज्ञान उपहित ब्रह्म को अज्ञान का आश्रय मानने पर आत्माश्रय दोष न होगा क्योंकि उपाधि विशेषण की भांति विशेष्य से मिलकर व्यावर्तक नहीं होती किन्तु स्वसान्निध्यमात्र से व्यावर्तक होती है। यह कथन भी ठीक नहीं। क्योंकि ब्रह्म एक ही है, अनेक नहीं। ऐसी दशा में उपाधि हो या विशेषण किसका व्यावर्तन करेंगे।

ब्रह्म निरंश निष्प्रदेश होने के कारण ब्रह्म को किसी अंश या प्रदेश का व्यावर्तन करना भी उपाधि या विशेषण द्वारा संभव नहीं। ब्रह्म से भिन्न सर्व पदार्थ अज्ञान के कार्य होने के कारण, उन पदार्थों के या उन पदार्थों से विशिष्ट अथवा उपहित ब्रह्म के आश्रित भी अज्ञान नही रह सकता। यही कारण है कि आप मायावादियों के आचार्य संक्षेप शारिककार ने केवल ब्रह्मरूप चिति को ही अविद्या का आश्रय स्वीकार किया है। **आश्रयत्वविषयलभागिनी निर्विभागचितिरेवकेवला। पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः॥ सं. शा. १/३१६**
किन्तु प्रकाश रूप सूर्य में अन्धकार की तरह ज्ञानरूप केवल ब्रह्म में अज्ञान का रहना किसी प्रकार संभव नहीं यह कहा ही जा चुका है।

समाधान

यद्यपि जीव तथा ईश्वर में भी अज्ञान की आश्रयता संभव है ऐसा वेदांताचार्यों ने अद्वैतसिद्धि आदिक ग्रन्थों में युक्ति से सिद्ध किया है, लेखक ने भी अपने ग्रन्थ की भूमिका में अपने को अद्वैत सिद्धि आदिक वेदान्त के प्रौढ़ ग्रन्थों का स्वाध्यायशील होना लिखा है। पुनरपि युक्ति से सिद्ध वेदान्ताचार्यों के जीव अथवा ईश्वर आश्रित अज्ञान है इस पक्ष को माना भो नहीं, न इस सबंध में दी आचार्यों की युक्तियों पर ही विचार किया। उन्हीं पूर्व पक्ष की यत्किंचित् युक्तियों को लिखकर विस्तृत आक्षेप लिख दिया। लेखक की यह विचार शैली दार्शनिक प्रणाली से सर्वथा बाह्य है, अतः उनका कथन कोई विशेष विचारणीय नहीं। तथापि उनके ग्रन्थ को देखकर सुकोमलमति जिज्ञासुओं को किसी प्रकार का आघात न पहुंचे एतदर्थ कुछ विचार करते हैं।

अन्ततो गत्वा लेखक ने यह सिद्ध किया है कि अज्ञान विशिष्ट या उपहित चेतन में तो आत्माश्रयादि दोष होने से अज्ञान संभव नहीं, ज्ञान स्वरूप शुद्ध चेतन में अज्ञान माना जायगा तो तमः प्रकाश की तरह विरोध होने से संभव नहीं। इस अल्पसार युक्त तृतीय आक्षेप का सक्षेप में उत्तर यही है कि घट महं न जानामि इस अनुभव (ज्ञान) से यह सिद्ध है कि अज्ञान उपरोक्त अनुभव से प्रकाशित हो रहा है, जिससे जो प्रकाशित होता है उससे उसका विरोध नहीं होता, अतः वे एक स्थान तथा एक काल में भी रहते हैं। जैसे घट सूर्य की दीप्ति से प्रकाशित होता है, उस दीप्ति से घट का कोई विरोध नहीं। क्योंकि दोनों एक ही स्थान तथा एक काल में बने

रहते हैं। उसी प्रकार जिस अनुभव से अज्ञान प्रकाशित हो रहा है, उस अनुभव से अज्ञान का विरोध, सूर्य तथा अन्धकार की तरह कथमपि संभव नहीं। अतः अनुभव (ज्ञान) स्वरूप शुद्ध ब्रह्म से अज्ञान का भी कोई विरोध संभव न होने से ब्रह्म में अज्ञान रह सकता है। तथा अज्ञान से ब्रह्म विवर्तो-पादान भी बन सकता है। **घट महं न जानामि** इस अनुभव के बल से स्वरूपभूत अनुभव कहिये ज्ञान तथा अज्ञान का कोई विरोध नहीं। अतः लेखक का यह कहना कि ज्ञानरूप केवल ब्रह्म में अज्ञान का रहना किसी प्रकार संभव नहीं, सर्वथा अनुभव विरुद्ध है।

माया उपहित ब्रह्म में अज्ञान मानने पर भी उपाधि, उपहित से भिन्न शुद्ध ब्रह्म का व्यावर्तक होने से इस पक्ष में भी लेखकोक्त कोई दोष संभव नहीं। यद्यपि ब्रह्म निरंश तथा निर्भेद है तथापि अचिन्त्य शक्ति भूत माया, (अज्ञान) शुद्ध ब्रह्म मे उपहित ब्रह्म का कल्पित भेद उपस्थित कर देती है। अतः माया उपाधि, शुद्ध ब्रह्म का व्यावर्तन करती है। यह कथन भी भली प्रकार संभव है।

चतुर्थ आक्षेप

(क)

केवल ब्रह्म को अज्ञान का आश्रय तथा विषय मानने पर ब्रह्म को ब्रह्म विषयक ज्ञान होने पर ही अज्ञान की निवृत्ति हो सकेगी अन्यथा नहीं। क्योंकि सामानाश्रय में रहने वाले समान विषयक अज्ञान तथा ज्ञान में निवर्त्यनिवर्तक भाव होता है। इसे स्वीकार करने पर दो दोष होंगे।

(क) दोष

एक तो अज्ञान निवर्तक आगन्तुक ज्ञान रूप विकार का उदय ब्रह्म में होने से ब्रह्म को विकारी मानना होगा। ब्रह्म का विकारी होना वेदान्ती को कथमपि मान्य नहीं।

(ख) दोष

दूसरा दोष यह होगा कि प्रमाणजन्य प्रमा ज्ञान का प्रमेय (विषय) ब्रह्म को अवश्य मानना होगा। सिद्धान्त का घातक होने से इसे भी वेदान्ती नहीं मान सकते।

(क) दोष—समाधान

कोई भी नियम अनुभवानुसार स्थापित होता है। लोक में देवदत्तादिक जब ऐसा अनुभव करते हैं कि **घटोमयाऽज्ञातः घट महं न जानामि**, मेरे द्वारा

घट अज्ञात है या मैं घट के अज्ञान वाला हूं तब देवदत्त को घट का अज्ञान होता है। पुनः जब ऐसा अनुभव करता है कि मयाघटोज्ञातः घटमहं जानामि, मेरे द्वारा घट ज्ञात है या मैं घट ज्ञान वाला हूं, तब उसको घट का ज्ञान होता है। और अज्ञान निवृत्त हो जाता है। यदि देवदत्त से प्रश्न किया जाय कि घट का अज्ञान किसको था किसको घट का ज्ञान हुआ, तब वह कहता है कि मुझे घट का अज्ञान था तथा मुझें ही घट का ज्ञान हुआ है। देवदत्त के इस कथन से अहं अर्थ को अज्ञान तथा ज्ञान का निरूपक बोधन कर रहा है। घट को ज्ञान तथा अज्ञान का विषय बोधन कर रहा है। अतः अहमर्थ रूप समान निरूपक समान विषयक ज्ञान तथा अज्ञान का विरोध है, यह नियम स्थिर होता है। इस नियमानुसार ब्रह्म विषयक अज्ञान का जो देवदत्तादि अहमर्थ निरूपक होता है, उसी देवदत्तादि अहमर्थ से निरूपित ज्ञान से वह निवृत्त हो जाता है। घटादि विषयक अज्ञान का आश्रय अहमर्थ है या अन्तःकरण उपहित साक्षी चेतन है, या घटाकार वृत्युपहित चेतन है, अथवा घटावच्छिन्न चेतन है, इस प्रकार घटादि अज्ञान के आश्रय में अनेक विध विवाद हैं। अहमर्थ रूप निरूपक विषयक कोई विवाद है नहीं। आश्रय कोई भी हो अज्ञान का निरूपक अहमर्थ ही होता है इसमें कोई विवाद नहीं। अतः केवल सामानाश्रय से घटित विवादग्रस्त नियम का परित्याग कर समान निरूपक घटित विवाद रहित नियम को स्वीकार कर समाधान किया है। जिसका पर्यवसान, निरूपकत्व सम्बन्ध से समानाश्रय समान विषयक ज्ञानाज्ञान का विरोध होता है इस नियम में हैं। यही नियम सर्वमान्य संभव भी है। अतः अहमर्थ रूप निरूपक में उत्पन्न ज्ञान से ब्रह्म विषयक अज्ञान की निवृत्ति हो जाने से ब्रह्म में ज्ञान के उदय होने से विकारी होने की कोई आपत्ति नहीं।

(ख) दोष-समाधान

प्रमा ज्ञान की विषयता द्विविधा होती है, एका फल व्याप्तिरूपा, द्वितीया वृत्ति व्याप्तिरूपा। इनमें से फल व्याप्तिरूपा विषयता जहां होती है वहां दृश्यता रहती है, जहां दृश्यता रहती है वह पदार्थ मिथ्या होता है। ब्रह्म में मिथ्यात्व की आपत्ति से सिद्धान्त का विघात् न हो, अतः फल व्याप्ति रूप विषयता वेदान्ति को मान्य नहीं। वृत्ति व्याप्तिरूपा विषयता मानने में उक्त दोष न होने से ब्रह्म में वृत्ति व्याप्ति रूपा विषयता मानने में वेदांती को कोई आपत्ति नहीं। न सिद्धान्त का विघात ही है।

यदि यह कहा जाए कि वेदान्ति ब्रह्म को औपनिषद्, अर्थात् उपनिषज्जन्य प्रमाज्ञान का विषय मानते हैं, उपनिषद् शब्द है। शब्द प्रमाण अपने वाच्य अथवा लक्ष्य विषयक ही ज्ञान उत्पन्न करता है। वेदान्ति शुद्ध ब्रह्म को शब्द का वाच्य नहीं मानते, अतः उपनिषद से ब्रह्म का ज्ञान होना सभव नहीं। क्योंकि जो किसी शब्द का वाच्य नहीं वह किसी शब्द का लक्ष्य भी संभव नहीं हो सकता। तथा वाच्यार्थ से सम्बन्ध वाले में ही लक्षणा हो सकने के कारण सर्वथा असंग ब्रह्म में लक्षणा का होना किसी प्रकार भी संभव नहीं।

उपरोक्त कथन भी उचित नहीं। यद्यपि शब्द काशक्य जाति है, या व्यक्ति है अथवा विशिष्ट है इत्यादि प्रकार का शक्य विषयक अनेक विध विवाद हैं, तथापि वेदान्ति प्रायः तत्वमसि आदिक महावाक्यों में स्थित तत्त्वं आदि पदों का विशिष्ट को शक्य मानकर उनसे विशिष्ट की उपस्थितिपूर्वक, लक्षणा से शुद्ध चैतन्याभेद को वाक्यार्थ मानते हैं। इसी पक्ष को लेकर लेखक की शंका का उत्थान हुआ है। अतएव विशिष्ट पक्ष के अनुसार ही विचार करते हैं। लेखक ने, जो लक्ष्य होता है वह किसी का वाच्य भी होता है ऐसी व्याप्ति स्वीकार करके ही शंका की है। किन्तु यह व्याप्ति सिद्ध नहीं होती। क्योंकि "**गंगायां घोषः**' इस प्रसिद्ध लक्षणा के उदाहरण में गंगापद लक्षक पद है, गंगापद का वाच्य देव नदी का प्रवाह है। शक्य सम्बन्ध रूप लक्षणा होती है। प्रकृत में देव नदी के प्रवाह का तीर से सयोग सम्बन्ध लक्षणा है। वह प्रवाह का संयोग सम्बन्ध शुद्ध तीर से है, न कि तीरत्व विशिष्ट से। अतः गंगापद से देव नदी के प्रवाह रूप शक्यार्थ का संयोग सम्बन्ध रूप लक्षणा के द्वारा शुद्ध तीर की ही उपस्थिति होगी, न कि तीरत्वादि विशिष्ट तीर की। क्योंकि तीरत्व में देव नदी के प्रवाह रूप शक्यार्थ संयोग सम्बन्ध ही नहीं है। न तीरत्व, या तीरत्वविशिष्ट की उपस्थिति की आवश्यकता ही है। क्योंकि ग्राम की आश्रयता द्रव्यभूत तीर में ही है, तीरत्व जाति अथवा तद्विशिष्ट में नहीं अतः तीर मात्र ही लक्ष्य है न कि तीरत्व या तद्विशिष्ट। तीरत्व धर्म के बिना लक्षंभूत केवल तीर किसी भी तीरादि शब्द का वाच्य नहीं। अतः तीरत्व से अविशिष्ट तीर मात्र लक्षतो है परन्तु वाच्य नहीं। ऐसी दशा में यह नियम सिद्ध नहीं होता कि जो लक्ष्य होता है वह किसी का वाच्य भी अवश्य होता है। जब यह नियम ही सिद्ध नहीं तब इस नियम पर आधारित यह शंका कि "जो किसी का वाच्य

नहीं वह किसी का लक्ष्य भी संभव नहीं होता" कैसे संभव हो सकती है ?

पुनः जो यह आक्षेप किया कि वाच्य से सम्बन्ध वाले में ही लक्षणा हो सकने के कारण सर्वथा असंग ब्रह्म में लक्षणा का होना किसी प्रकार भी संभव नहीं।

यह आक्षेप भी उचित नहीं क्योंकि वेदान्ति विशिष्ट का शुद्ध असंग ब्रह्म में कल्पिततादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं। कल्पित सम्बन्ध से वास्तविक असंगता का कोई विरोध नहीं। अन्यथा कल्पित जल से मरुभूमि की वास्त-विक शुष्कता का भी विरोध आपन्न होगा। सो कथमपि संभव नहीं क्योंकि अनुभव विरुद्ध है। अतः विशिष्ट का शुद्ध असंग ब्रह्म में तादात्म्य सम्बन्ध रूप लक्षणा सर्वथा संगत है। उससे ब्रह्म की असंगता में कोई बाधा नहीं।

यद्यपि पूर्वोक्त प्रकार से जो लक्ष्य होता है वह वाच्य भी, ऐसा नियम (व्याप्ति) नहीं, अतएव लेखकोक्त शंका का भी कोई अवसर नहीं। तथापि कथंचित् उक्त नियम (व्याप्ति) मान भी लिया जाय तब भी वेदान्ति को कोई आपत्ति नहीं। क्योंकि प्रमाण प्रतिपादक शास्त्र के मूर्धन्य ग्रंथ तत्व चिंतामणि में आकाश पद की शुद्ध आकाश में शक्ति मानकर उसको आकाश पद का वाच्य माना है। तथाहि—**आकाशादिपदस्य शब्दाश्रयत्वादिविशिष्टे न शक्तिः, कदाचिदष्टद्रव्यान्यद्रव्यत्वरूपेणाप्याकाशादिपदाच्छाब्द बोधोत्पत्तेः, तद्विशिष्टेऽपि शक्त्यापत्तेरेकस्यामाकाशादिव्यक्तौ केवलायामेव शक्ति संभवात् शक्त्यनुगमार्थमेव किंचिद्धर्मविशिष्टे शक्तिस्वीकारात्।** इत्यादि।

अर्थ—आकाशादिपद की शब्दाश्रयत्वादि रूप आकाशत्व विशिष्ट आकाश में शक्ति नहीं है। क्योंकि कभी-कभी आकाशपद से अष्ट द्रव्यान्य द्रव्यत्व रूप से भी आकाश बोध होता है. अतः अष्टद्रव्यान्यद्रव्यत्व विशिष्ट में भी शक्ति की आपत्ति होगी। भाव यह है यदि शब्दाश्रयत्व विशिष्टा-काश में आकाश पद की शक्ति मानी जायगी तो आकाश पद से आकाश का अष्ट द्रव्यान्यद्रव्यत्व रूपेण बोध नहीं होगा. किन्तु होता है, अतः शब्दा-श्रयत्व विशिष्ट में आकाशपद की शक्ति नहीं। उसी प्रकार अष्टद्रव्यान्य द्रव्यत्व विशिष्ट आकाश में भी आकाशपद की शक्ति संभव नहीं क्योंकि आकाश पद से प्रायः शब्दाश्रयत्व रूप से ही आकाश का बोध होता है। उभय धर्म विशिष्ट में शक्ति मानना नियम विरुद्ध है क्योंकि दो शक्यताव-च्छेदक संभव नहीं तथा उभयधर्म विशिष्ट में शक्ति मानने पर आकाशपद से सदा उभय धर्म रूप से ही आकाश का बोध होगा सो अनुभव विरुद्ध है।

आकाशपद से एकधर्म विशिष्ट आकाश का बोध अनुभव सिद्ध है। अतः केवल आकाश व्यक्ति में ही शक्ति संभव होने से मानना उचित है।

यदि यह शंका की जाय कि जब केवल व्यक्ति में भी शक्ति संभव है तब घटत्वादि किंचिद्धर्म विशिष्ट घटादिकों में घटादिपद की शक्ति क्यों मानी जाती है। इसका समाधान यही है कि अनेक घटादि में शक्ति के अनुगम के लिए ही अनुगत किंचिद्धर्म विशिष्ट में शक्ति स्वीकार की जाती है। अन्यथा आनन्त्य तथा व्यभिचार दोष प्राप्त होंगे। जहां एक ही व्यक्ति किसी आकाशादि पद की शक्ति का विषय होता है वहां शक्ति के अनुगम की आवश्यकता न होने से किंचिद्धर्म विशिष्ट आकाशादि में शक्ति मानने की भी आवश्यकता नहीं। इत्यादि रूप से आकाश पद की व्यक्ति मात्र अर्थात् शब्दाश्रयत्वादि उपलक्षित में शक्ति, चिन्तामणि में मानी है।

जैसे आकाश पद का वाच्य केवल आकाश व्यक्ति है। उसी प्रकार सत्यादि का वाच्य केवल ब्रह्म मात्र शुद्ध स्वरूप ही है। अतः सत्यादिपद का वाच्यभूत शुद्ध ब्रह्म तत्वमस्यादि वाक्यस्थ पदों का लक्ष्य संभव होने से भी लेखक की यह शंका कि "ब्रह्म किसी का वाच्य नहीं होने से लक्ष्य भी नहीं हो सकता सर्वथा असगत है।

इसी अभिप्राय से अद्वैत सिद्धि के द्वितीय परिच्छेद के "सत्यादिवाक्याखण्डार्थत्वोपपत्ति" प्रकरण की टीका गौड़ ब्रह्मानन्दी में भी कहा है :—
शब्दाश्रयत्वं यथा नाकाशादि पदशक्यंतद्विनापि अष्टद्रव्यान्य द्रव्यत्वादिना तत्पदाच्छाब्दबोधोपपत्तेः नानाव्यक्तिष्वनुगतधर्मं विना शक्यत्वग्रहासंभवेन व्यक्तिनानात्व स्थल एवाधर्मे शक्यत्वस्य सार्थक्याच्च किन्तु तदुपलक्षित व्यक्तिः, तथा त्रिकालाबाध्यत्वाद्युपलक्षितमेव सत्यादि पदशक्यं संभवतीति लक्षणा ज्ञानं विनैवाखण्डानुभवसंभवः।

अर्थ—जैसे शब्दाश्रयत्व रूप आकाशत्व धर्म आकाशादि पद का शक्य नहीं है, क्योंकि शब्दाश्रयत्व के बिना भी अष्टद्रव्यान्य द्रव्यत्वरूप से आकाश के आकाशपद से शाब्द बोध की सिद्धि होती है। तथा नाना घटादि व्यक्तियों में अनुगत धर्म के बिना शक्यत्व का ज्ञान असंभव होने से व्यक्तियों के नानात्व स्थल में धर्म में शक्ति मानने की सार्थकता होने से भी आकाशादि एक व्यक्ति स्थल में धर्म में शक्यता (शक्ति) मानने की आवश्यकता नहीं, किन्तु धर्मोपलाक्षित आकाशादि व्यक्ति ही आकाशादिपद का शक्य है। उसी प्रकार त्रिकालाबाध्यत्वादि धर्म से उपलक्षित ब्रह्म ही सत्या-

दिपद का शक्य संभव है, अतः लक्षणा के बिना ही अखण्ड ब्रह्म का अनुभव सत्यादिपदों से संभव है।

भाव यह है कि तत्व चिन्तामणि. सिद्धान्त बिन्दु, न्यायरत्नावली, अद्वैतसिद्धि, गौड़ ब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका) आदि न्याय वेदान्त ग्रन्थों में आकाशादिपद का वाच्य केवल आकाश व्यक्ति है. ऐसा सिद्ध किया है, उसी दृष्टान्त से केवल ब्रह्म को सत्यादि पदों का वाच्य माना है। किन्तु बीस वर्ष पर्यन्त अद्वैत सिद्धि आदि ग्रन्थों के स्वाध्याय शील लेखक का, उपरोक्त ग्रन्थों के लेख पर कोई भी टीका टिप्पणी किये बिना तथा उत्तर को लिखे बिना शंका मात्र कर देना, प्रौढ़ ग्रंथों से अपरिचित जिज्ञासुओं को बुद्धि में भ्रम डालने से अतिरिक्त क्या कहा जा सकता है ? इसके उत्तर पर लेखक को स्वयं विचार करना है।

पंचम आक्षेप

५. मायावादियों की यह माया और अज्ञान अभिन्न है या भिन्न है ? इन्हें अभिन्न मानने पर अज्ञान उपाधि वाला अल्पज्ञ जीव होता है, और माया उपाधि वाला सर्वज्ञ ईश्वर होता है, इस प्रकार जीव ईश्वर का भेद प्रतिपादन संभव न होगा। यदि कहें जैसे अल्प स्वच्छ कांच और अति स्वच्छ स्फटिक ये दोनों पृथ्वी तत्व होने से एक ही हैं, केवल अल्प स्वच्छता अति स्वच्छता रूप अवस्था का ही भेद है। वैसे ही माया और अविद्या एक मूल प्रकृति रूप होने से एक ही हैं, माया में शुद्ध सत्व गुणता और अविद्या में मलिन सत्वगुणता रूप अवस्था का ही भेद है, इसलिए जीव ईश्वर का भेद बन सकता है। यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि अवस्था परिणाम कार्य ये सभी शब्द पर्याय होने से अविद्या और माया को मूल प्रकृति का कार्य सादि मानने पर सादि माया और अविद्या उपाधि वाले ईश्वर और जीव को भी सादि मानना होगा।

जैसे पृथिवी की अवस्था विशेष कांच की निवृत्ति होने पर भी पृथिवी की तथा स्फटिक की निवृत्ति नहीं होती। वैसे ही विद्या से मूल प्रकृति की अविस्था विशेष अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर भी माया की तथा मूल प्रकृति की निवृत्ति न होगी। ऐसी दशा में अद्वैत की सिद्धि कैसे कर सकोगे ? माया और अविद्या रूप दोनों अवस्थाओं को भी मूल प्रकृति की तरह अनादि मानकर भी उक्त दोषों का परिहार नहीं किया जा सकता, क्योंकि

अवस्था परिणाम शब्द सादि कार्य के पर्यायवाची होने से उसे अनादि नहीं माना जा सकता।

यदि माया अविद्या को भिन्न मानें तो भी विद्या से अविद्या का ही विरोध होने से अविद्या की ही निवृत्ति हो सकती है, माया की निवृत्ति न होने के कारण इस पक्ष में भी अद्वैत सिद्ध न कर सकोगे। यहां यह भी विचारणीय है कि आप के मत में एक ही चेतनत्व मान्य है, वही इन दोनों माया अविद्या का आश्रय है, ऐसी दशा में एक को ही अल्पज्ञता और सर्वज्ञता का युगपदमुभव होना चाहिये। चेतन तत्व देश रहित अंश रहित होने के कारण उसके एक देश में माया एक अंश में अविद्या है और अन्य देश या अन्य अंश में माया है इस प्रकार का समाधान देना भी सम्भव नहीं।

माया और अविधा को भिन्न मान लेने पर मायां प्रकृतिं विद्यात् इस श्रुति में कथितमायिक जगत् को अविद्या का कार्य नहीं कह सकोगे, ऐसी दशा में अद्वैत सिद्धि तो किसी प्रकार भी न कर सकोगे।

इस पंचम आक्षेप में से माया अविद्या के भेद पक्ष में जो दोष दिये हैं वे तो इसलिए संभव नहीं कि वेदान्ति इन दोनों का भेद नहीं मानता। शेष अभिन्न पक्ष में जो दोष दिये हैं उनके समाधानार्थ प्रथम "माया अचिन्त्य शक्ति" है इसे समझने के लिए एक भागवत का प्रसंग तथा लोक में प्रसिद्ध एक घटना लिखते हैं, तत्पश्चात आक्षेप का समाधान लिखेंगे।

भागवत् प्रसंग

अथ ते भगवल्लीला योगमायोपबृंहिताः।

विश्वस्थित्युद्भवान्तार्था वर्णयाम्यनुपूर्वशः॥ भा० ३-५-२२

मैत्रेयजी ने कहा हे वदुर ! अब मैं भगवान् की योगमाया रूपाचिन्त्य शक्ति से विस्तारित विश्व की स्थिति उत्पत्ति तथा संहार रूप भगवान् की लीलाओं का वर्णन करता हूँ। ऐसा कहकर विश्व की उत्पत्यादि का वर्णन मैत्रेय जी ने विस्तार से किया उसे, सुनकर विदुर जी ने प्रश्न किया-

विदुर उवाच—ब्रह्मन् कथं भगवतश्चिन्मात्रस्याविकारिणः।

लीलयापिचापियुज्येरन्निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः।

भा० ३-७-२

हे ब्रह्मन् भगवान गुण रहित हैं इसलिए माया के गुणों का अविकारी हैं अतएव उनमें क्रियाओं का सम्बन्ध कैसे संभव है, यदि कहो कि लीला मात्र से उनमें गुण क्रिया का सम्बन्ध है, तो यह समाधान भी उचित नहीं, क्योंकि

लीला मात्र संबंध कहने से तो केवल इतना ही सिद्धहोता है कि भगवान को गुण तथा क्रियाओं के सम्बन्ध से कोई प्रयोजन नहीं है। वस्तु विरोध निवृत्त नहीं होता। यहां तो विरोध है क्योंकि जो वस्तु निर्गुण निराकार है वह सगुण सक्रिय कैसे हो सकता है। यदि कहा जाय कि वह निर्गुण निर्विकार नहीं है, अर्थात् सगुण सविकार है। यह कहना भी सम्भव नहीं हैं। क्योंकि परमात्मा चिन्मात्र है। गुण क्रिया का सम्बन्ध मानने पर परमात्मा में चिन्मात्रता ही न रहेगी। अतः परमात्मा को निर्गुण निर्विकार मानना आवश्यक है। अतएव ऊपरोक्त शंका की प्राप्ति भी अवश्यंभावी है। २।

विचार करने पर भगवान् में लीला भी सम्भव नहीं। क्योंकि—

क्रीड़ायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीडिषाऽन्यतः।
स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य सदान्यतः॥३॥

बालक की क्रीड़ा (लीला) में प्रवृत्ति का कारण स्वेच्छा है वह इच्छा स्वतः होती है अथवा अपने से अन्य क्रीडा के साधन कन्दुकादि को देखने, या अन्य बालकों की प्रेरणा, से भी हो जाती है। अतः बालक को क्रिड़ा सम्भव है। परंतु भगवान् स्वतः अर्थात् परमानन्द स्वरूप लाभ होने से नित्य तृप्त है नित्य तृप्त में स्वतः इच्छा संभव होने से लीला में प्रवृत्ति संभव नहीं। तथा सृष्टि के आदि में भगवान् से अतिरिक्त दूसरा कोई पदार्थ है नहीं जिसके दर्शन या प्रेरणा से क्रीडा की इच्छा हो सके, इसके अभाव में लीला किसी प्रकार संभव नहीं। तब यह संसार कैसे उत्पन्न हुआ। अर्थात् इसकी उत्पत्ति संभव नहीं। तथा—

अस्राक्षीद्भगवान्विश्वं गुणमय्याऽऽत्ममायया।
तथा संस्थापयत्येतद्भूयः प्रत्यपिधास्यति॥४॥

भगवान् ने गुणमयी जीव को मोहोत्पादिका माया से इस विश्व को रचा है उसी से पालन तथा विपरीत क्रम से विलय करता हैं। ४। यह आपने वर्णन किया सो तब ही संभव है, जब जीव में अविद्या रूप माया का सम्बन्ध हो, क्योंकि अज्ञानी पुरुषों के कर्म फलादि देने के लिए ही संसार को भगवान् रचता है। सो अविद्या का सम्बन्ध जीव में सम्भव नहीं। क्योंकि—

देशतः कालतो योऽसावस्थातः स्वतोऽन्यतः।
अविलुप्तावबोधात्मा सयुज्येताजया कथम्॥५॥

देश काल अवस्था स्वयं तथा अन्य से जिस ज्ञान का कभी लोप नहीं ऐसे

ज्ञान स्वरूप जीव का अविद्या रूप अजा (माया) से योग कैसे हो सकता है। भाव यह है कि ज्ञान अज्ञान का विरोध होने से ज्ञान स्वरूप जीव का अज्ञान रूप माया से सम्बन्थ कैसे सम्भव हैं।

तथा—**भगवानेक एवैष सर्वक्षेत्रेष्वास्थितः।**

अमुष्य दुर्भगत्वंवा क्लेशो वा कर्मभिः कुतः ॥६॥

भगवान् एक अद्वितीय है अतः यह भगवान् ही सर्वदेहों में जीव रूप से स्थित हैं। अतः यह भगवान ही जीव है। तब भगवत्स्वरूप जीव का आनन्द से रहित होना तथा कर्मों से क्लेश वाला होना कैसे संभव है। क्यों कि भगवान् तो आनन्द रूप तथा सर्व क्लेशों से रहित हैं ॥६॥

एतस्मिन्मे मनो विद्वन्खिद्यतेऽज्ञानसंकटे।

तन्नः पराणुद विभो कश्मलंमानसं महत् ॥७॥

हे शंकाओं के समाधान करने में समर्थ विद्वन् मैत्रेय जी महाराज! इस अज्ञान रूप (संशय) संकट में मेरा मन खेद पा रहा है। इस हमारे मन के महान् खेद को उत्तर देकर दूर कीजिये ॥७॥

इन भागवत स्क. ३।७।२ से ७ तक ६ श्लोकों से विदुर जी ने माया विषयक अपनी शंका उपस्थित की। जिसका भाव यह है कि निर्गुण में माया के गुणों का होना, निर्विकार में क्रिया आदि विकार का होना, नित्य आनन्द तृप्त आप्तकाम पूर्णकाम एक अद्वितीय परमेश्वर में विश्व सृष्टयादि लीला की कामना स्वतः अथवा परतः होना, देशकाल अवस्था आदि से अविनष्ट ज्ञान स्वरूप अतएव ब्रह्म स्वरूप जीव में अविद्यारूप माया का सम्बन्ध होना ब्रह्म स्वरूप अतएव नित्यानन्द स्वरूप जीव में आनन्द का अभाव तथा कर्म फलरूप क्लेश का होना तथा एक ही माया का भगवान् के प्रति अमोहकत्व तथा जीव के प्रति मोहकत्व होना कैसे सम्भव है, क्योंकि यह सर्व युक्ति से विरुद्ध है।

विदुर जी की पूर्वोक्त शंका का समाधान देते हुए मैत्रय जी ने कहा—

सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते।

ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुत बन्धनम् ॥ भा. ३।७।९

निर्गुण में गुण, अविकारी में क्रिया, नित्यतृप्त एकाकी परमात्मा में सृष्टयादि लीला की इच्छा, ज्ञानस्वरूप में अविद्या आनन्द स्वरूप ईश्वर स्वरूप जीव में कार्पण्य अर्थात् आनन्द के अभाव से दीनता नित्यमुक्त में बन्धनादिका होना आदिक यह सर्व तर्क विरुद्ध है यह तर्क विरुद्ध कार्य करने

होना ही तो माया है। अर्थात् इस सर्व तर्क विरुद्ध कार्य करने वाली ही तो भगवान् की यह माया शक्ति है। जिसके बल से सृष्टयादि के कर्ता भगवान् होते हैं।६॥

भाव यह है कि युक्ति से विरुद्ध असम्भव अर्थ को भी सम्भव कराने वाली भगवान की अघटन घटना पटीयसी माया शक्ति है।

माया के भागवतोक्त स्वरूप का विचार करने पर कोई भी माया विषयक वे शंका या आक्षेप संभव नहीं हो सकते जो लेखक ने किये हैं, फिर भी लेखक ने माया विषयक जो अनेक आक्षेप किये हैं वे सर्व शास्त्रोक्त माया के स्वरूप पर दृष्टि डाले बिना ही किये हैं। परन्तु शास्त्र को ही सर्वोपरि प्रमाण मानने वाले तथा अनवरत शास्त्रों के स्वाध्यायशील लेखक के लिए यह उचित नहीं था।

माया का स्वरूप समझने के लिये

लोक–प्रसिद्ध-घटना

किसी ग्राम में आकर किसी मायावि ने आकर यह घोषणा की कि मुझ में ऐसा सामर्थ्य है कि यदि समस्त ग्राम वासी मेरे कटिप्रदेश में दीर्घ तथा पुष्ट रज्जु बांध कर खींचे तो भी मैं खिच नहीं सकता। इस घोषणा को सुनकर बड़े कौतुक से एक लम्बा रस्सा लेकर सर्व ग्राम वासी एक पीपल के वृक्ष के तले एकत्रित हो गए। मायावि की कटि में सुबद्ध रस्से को खींचते हैं किन्तु मायावी टस से मस नहीं हुआ। सर्व मनुष्यों को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसी समय एक व्यक्ति वन से घास सिर पर रख आ रहा था, वह भी जन समुदाय को देख उधर ही चल दिया। पास पहुँचने पर उसने देखा कि लोग पीपल के वृक्ष में रस्सा बांध कर खींच रहे हैं। वह सोच ही रहा था कि हमारे ग्रामवासी ऐसा क्यों कर रहे हैं कि इतने में खेल समाप्ति की वंशी तथा डमरू को मायावि बजाने लगा। खेल समाप्त हो गया।

इस घटना से लौकिक मायावि की माया शक्ति का स्वभाव सहज में ही समझ में आ जाता है कि एक ही माया का स्वभाव, मायावि के लिये अमोहक तथा अन्य पुरुषों के लिए मोहक है। उस वन से घास सिर पर रक्खे हुए मनुष्य की घास में माया निवर्तक बूटी थी अतः उसके लिए माया या उसका कार्य कुछ भी नहीं था। उसी प्रकार महामायावि परमेश्वर की एक ही माया भी परमेश्वर के लिए ज्ञान का आवरक नहीं तथा जीव के ज्ञान का आवरक है। इस प्रकार माया के स्वरूप को समझने पर माया विषयक शंकाओं का

कोई अवसर नहीं। पुनरपि लेखक ने जो आक्षेप किये हैं उनका समाधान देना आवश्यक है। अतः

पंचमाक्षेप समाधान

मायावादियों की यह माया तथा अविद्या(अज्ञान)अभिन्न ही हैं। जैसे उक्त घटना में मायावि तो माया के प्रभाव से रहित यथार्थ ज्ञाता होता है, उसके मोह कहिये ज्ञान का आवरक माया नहीं होती। अन्य पुरुषों के ज्ञान का आवरक होकर मोह का हेतु होती है। उसी प्रकार एक ही महा मायावि परमेश्वर की माया परमेश्वर को मोहन नहीं करती अतः वह सर्वज्ञ ही रहता है। जीवों को मोह करती है, अतः वे अल्पज्ञ हो जाते हैं।

भाव यह है कि एक ही मूल प्रकृति ईश्वर के प्रति माया तथा अविद्या रूप होने से, अविद्या उपाधि वाला अल्पज्ञ जीव होता है और माया उपाधि वाला सर्वज्ञ ईश्वर होता है इस प्रकार जीव ईश्वर का भेद भी सुसंभव है न कि असंभव।

लेखक ने वेदान्ति के ऊपर जो यह आक्षेप किया है कि "यदि वेदान्ति कहे कि जैसे पृथिवी की अल्पस्वच्छ कांच तथा अतिस्वच्छ स्फटिकयह दो अवस्था हैं, उसीप्रकार मूल प्रकृति की माया अविद्या दो अवस्थाएँ हैं, तदुपाधिक जीव ईश्वर हैं।" ऐसा वेदान्ति का कहना भी संभव नहीं क्योंकि अवस्था परिणाम कार्य ये सभी शब्द पर्याय हैं। माया अविद्या को मूल प्रकृति का कार्य मानने पर सादि माया तथा अविद्या उपाधि वाले ईश्वर और जीव को भी सादि ही मानना होगा।

लेखक का उक्त आक्षेप भी उचित नहीं क्योंकि वेदान्ताचार्यों ने पचदशी आदिक ग्रन्थों में माया अविद्या को मूल प्रकृति की अवस्था या कार्यादि नहीं लिखा अपितु "माया अविद्या च स्वयमेव भवति" माया तथा अविद्या रूप स्वयं ही है ऐसा लिखा है। स्वयं ही माया तथा अविद्या होने का भाव यह है कि एक ही मूल प्रकृति भूत अचिन्त्य भगवच्छक्ति में अव्यामोहकत्व तथा व्यामोहकत्व यह दो स्वभाव हैं। इन दोनों स्वभावों के कारण वह माया तथा अविद्या कहलाती है। ये दो स्वभाव उसमें विशुद्धसत्व तथा मलिनसत्व से युक्त होने के कारण हैं। इसी बात को समझाने के लिए यह दृष्टान्त भी दिया जा सकता है कि जैसे एक ही पृथिवी में किंचित्स्वच्छता तथा अतिस्वच्छता रहती है। उसी प्रकार एक ही तत्व मूल प्रकृति में भी किंचित्स्वच्छता तथा अतिस्वच्छता संभव है। इसी अंश में दृष्टांत विवक्षित है।

उपरोक्त विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि माया अविद्या प्रकृति के कार्य नहीं अतएव सादि नहीं। अपितु स्वभाव भेद से एक ही तत्व के दो नाम हैं। सादि न होने से तदुपहित जीव ईश्वर भी सादि नहीं।

२० वर्ष पर्यन्त अनवरत प्रौढातिप्रौढ़ अनेक दार्शनिक ग्रन्थों के स्वाध्यायशील लेखक को यदि ऐसा लेख मिल भी गया हो कि माया अविद्या मूल प्रकृति की अवस्था विशेष हैं तब भी अवस्था शब्द का अर्थ कार्य नहीं अपितु अवान्तर विशेष ही समझना चाहिए। सांख्याभिमत त्रिगुणात्मक प्रकृति के तीन गुण जैसे प्रकृति के अवान्तर विशेष हैं तथा अनादि हैं तथैव वेदान्ति अभिमत मूल प्रकृति के अवान्तर विशेष माया अविद्या हैं तथा अनादि भी हैं। गुणत्रयसाम्यावस्था रूप प्रधान, तीनों गुणों की साम्यावस्था रूप है तथा अनादि है, कार्य अथवा सादि नहीं। वेदान्तियों को मान्य नित्यसाक्षी चैतन्य ही तुर्यावस्था है वह न किसी का कार्य ही न सादि ही है। अतः अवस्था शब्द सर्वथा कार्य या सादि पदार्थ का ही वाचक है, ऐसा नियम न होने से मूल प्रकृति के अवान्तर विशेष रूप माया अविद्या भी कार्य या सादि नहीं न तदुपहित जीव ईश्वर भी कार्य या सादि हैं।

"मायाऽऽभासेन जीवेशौ करोति" माया स्वनिष्ठ आभास से जीव ईश्वर को करती है" इस श्रुति का भी यह अभिप्राय नहीं कि जीव ईश्वर माया के कार्य हैं किन्तु माया की स्थिति के आधीन स्थिति वाले जीव ईश्वर हैं। यही अभिप्राय है। माया अविद्या की स्थिति अनादि है अतः तदधीना स्थिति वाले जीव ईश्वर भी अनादि ही हैं।

लेखक ने जो यह आक्षेप किया है कि पृथिवी की अवस्था विशेष कांच की निवृत्ति होने पर भी जैसे पृथिवी तथा स्फटिक की निवृत्ति नहीं होती वैसे ही अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर भी माया तथा मूल प्रकृति की निवृति नहीं होगी। ऐसी दशा में अद्वैत सिद्धि कैसे करोगे।

यह आक्षेप भी उचित नहीं क्योंकि हमने जो लोक प्रसिद्ध घटना लिखी है उसमें जिस मनुष्य के पास माया निवर्तक कोई घास (बूटी) था, उसके लिए तो मायावि की माया कुछ थी ही नहीं। उसी प्रकार विद्या से अविद्या रूप माया के निवृत्त होने से ज्ञानी पुरुष के लिए कुछ शेष नहीं रहता। अन्य के न रहने से ज्ञानी के लिए अद्वैत सिद्धि में कोई बाधा नहीं। चाहे ज्ञान समकाल कार्य सहित माया निवृत्ति हो या प्रारब्ध समाप्ति के पश्चात्, हर दशा में माया ने रहना नहीं।

माया अविद्या को भिन्न मानने में जो यह दोष दिया है कि विद्या से अविद्या का ही विरोध होने से अविद्या की ही निवृत्ति हो सकती है माया की निवृत्ति न होने के कारण इस पक्ष में भी अद्वैत सिद्धि न कर सकोगे।

यह दोष भी उचित नहीं क्योंकि वेदान्ती माया अविद्या का भेद नहीं मानता जैसा कि समाधान से पूर्व ही हम कह आए हैं।

पुनः जो यह दोष दिया कि आपके मत में एक ही चेतन तत्व मान्य है वही दोनों माया और अविद्या का आश्रय है। ऐसी दशा में एक को ही अल्पज्ञता और सर्वज्ञता का युगपदनुभव होना चाहिये।

यह दोष भी सम्भव नहीं क्योंकि प्रथमतो हम माया अविद्या को दो मानते नहीं। यदि स्वभाव भेद से एक ही मूल प्रकृति में आवरकत्व तथा अनावरकत्व मानकर युगपद् अल्पज्ञता तथा सर्वज्ञता की अनुभूति की आपत्ति की जाय तो वह भी संभव नहीं क्योंकि हम भागवत-प्रसंग प्रकरण में यह दिखा चुके हैं कि माया युक्ति से विरुद्ध अर्थ को भी संभव कर दिखा देती है। अतः एक ही चेतन में जीव ईश्वर भेद कल्पना कर एक ही काल में अल्पज्ञता तथा सर्वज्ञता अनुभव होती है, यह सर्व माया में सम्भव है। ईश्वर में सर्वज्ञता तथा जीव में अल्पज्ञता ही अनुभव कराने में भी माया शक्ति अनुदार नहीं है।

उपरोक्त हमारे कथन में स्वप्न दृष्टान्त भी प्रसिद्ध है। एक ही चेतन स्वप्न द्रष्टा जीव के आश्रित अविद्या रूप-माया एक में अनेक भेद कल्पना कर अनेक प्राणि प्रदर्शित कर दिखाती है। उनमें से किसी को अल्पज्ञ तथा किसी को सर्वज्ञ कर दिखाती है। एक ही द्रष्टाचेतन जीव में अल्पज्ञ तथा विशेषज्ञ का भेद कल्पना कर एक ही काल में अल्पज्ञता तथा सर्वज्ञता दिखा देती है। जिसे अल्पज्ञ कर दिखाती है वह अपने में विशेषज्ञता का अनुभव नहीं करता, जिसे विशेषज्ञ कर दिखाती है, वह अपने में अल्पज्ञता का अनुभव नहीं करता। तथा अल्पज्ञता तथा विशेषज्ञता दोनों के प्रदर्शन कराने वाली मायाभूत अविद्या स्वप्नद्रष्टा में भी दोनों अर्थात् अल्पज्ञता तथा विशेषज्ञता का युगपद् अनुभव नहीं कराती। स्वप्न में प्रतीयमान प्राणियों में अल्पज्ञता तथा विशेषज्ञता को एक में एक ही काल में नहीं दिखाती है इसका तो कहना ही क्या।

चेतनतत्व देश रहित अंश रहित होने के कारण उसके एक देश में अविद्या है और अन्य देश या अंश में माया है ऐसा समाधान भी वेदान्ति का देना संभव नहीं।

यह कथन भी उचित नहीं, क्योंकि प्रथम तो वेदान्ति माया अविद्या का भेद नहीं मानता, अतः उन दोनों की स्थिति के लिए पृथक् देश या अंश की आवश्यकता ही नहीं। कथंचित् आवश्यकता हो भी तो माया युक्ति युक्ति से विरुद्ध अर्थ सम्पादन करने में समर्थ है, अतः निरंश निर्देश ब्रह्म में भी अंश तथा देश की उपस्थिति कर सकती है, इसमें किसी शंका का अवसर नहीं।

षष्ठ-आक्षेप

(क)

मायावादियों का अविद्या को जगत् का परिणामी उपादान कारण मानना भी ठीक नहीं। क्योंकि किसी भी श्रुति में विद्यानिवर्त्य अविद्या को स्पष्ट असंदिग्ध रूप से जगत् का उपादान कारण नहीं कहा।

आक्षेप-समाधान

(क)

उपादानं प्रपंचस्य मृद्भाण्डस्येव पश्यति।
अज्ञानं चेति वेदान्तैस्तस्मिन्नष्टे क्व विश्वता॥ नादबिन्दु २६

अर्थ—घटादि पात्र का मिट्टी के समान अज्ञान को प्रपंच का उपादान-कारण जान लेने पर वेदान्त जन्य ज्ञान से उस अज्ञान के नष्ट हो जाने पर विश्व भाव कहां रहेगा। इस नाद बिन्दु उपनिषद् श्रुति में विद्या से निवर्त्य अविद्या (अज्ञान) को जगत् का उपादान कारण स्पष्ट तथा असंदिग्ध रूप से ही नहीं अपितु अतिस्पष्ट तथा असंदिग्ध रूप से कहा है :

माया च तमोरूपाऽनुभूति स्तदेतद् जडं मोहात्मकमनन्त मिदंरूपमस्य व्यञ्जिका, नित्यनिवृत्ताऽपिमूढैरात्मवदेव दृष्टा…सैषा वटबीजसामान्यवदनेकवटशक्ति रेकैव मायाऽविद्या च स्वयमेव भवति॥ नृसिंहतापनीयोपनिषत् ।९।

अर्थ—' जगत् का कारण भूत माया तत्व," अहं अज्ञः मैं अज्ञानी हूं इस तमोरूप अज्ञान की अनुभूति का विषय है। इस संसार के अनन्त मोहात्मक सर्व लोक प्रसिद्ध जडरूप को भी यही अपने में से अभिव्यक्त करती है। यह नित्य निवृत्त है। अर्थात् प्रतीयमान होती हुई नित्य निवृत्त होने से ज्ञान निवर्त्य मिथ्या है। तथापि मूढ पुरुष इसे सत्य स्वरूप आत्मा के समान देखते हैं। जैसे एक बट बीज सामान्य अनेक वट शक्ति है अर्थात् अनेक वटों के उत्पन्न करने वाला है, उसी प्रकार अनेक विध प्रपंच के उत्पन्न करने की

शक्ति रूपा यह एक ही है। यह प्रपंच का कारणभूत तत्व माया तथा अविद्या रूप स्वयं ही है।" यह नृसिंह तापनीय श्रुति, माया को अहमज्ञः इस अनुभव से सिद्ध कह कर अविद्या को माया से अभिन्न कहती हुई प्रपंच का कारण स्पष्ट रूप से कह रही है।

मायां तु प्रकृतिं विद्यात्। श्वेताश्वतर उ० अ० ४ म०—१०

अर्थ—'माया को संसार का प्रकृति (उपादान कारण जानो) यह श्वेताश्वतर मन्त्र, माया रूप अविद्या को उपादान कह रहा है।

तत्वभावात् भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः। श्वे० १-१०

अर्थ—"तत्वज्ञान से प्रारब्ध के अन्त में सम्पूर्ण माया की निवृत्ति हो जाती है।" यह श्वेताश्वतर मन्त्र, जगत्कारणभूत माया (अविद्या) को ज्ञान निवर्त्य कह रहा है। अतः उपरोक्त दोनों श्वेताश्वतर के वाक्य, समन्वित होकर ज्ञान निवर्त्य माया (अविद्या) को जगत् का उपादान कारण कह रहे हैं।

ज्ञान से निवर्त्य अविद्या को जगत् का उपादान कारण स्पष्ट बताने वाली श्रुतियों के विद्यमान रहने पर भी. उन पर कोई विचार-विमर्श किये बिना ही लेखक के द्वारा किया हुआ यह आक्षेप कि "किसी भी श्रुति में विद्या निवर्त्य अविद्या (अज्ञान) को स्पष्ट असंदिग्ध रूप से जगत् का उपादान कारण नहीं कहा" मिथ्या प्रलाप मात्र नहीं तो क्या है?

(ख) आक्षेप

अविद्या को जगत् का उपादान कारण मानना युक्ति विरुद्ध भी है। क्योंकि यदि अविद्या जगत् का उपादान कारण होती तो विद्या से अविद्या की निवृति हो जाने पर जगत् की प्रतीति होना किसी प्रकार सम्भव नहीं। कारणरूप सर्प की निवृत्ति होने पर भी कार्य रूप भय कम्पादि प्रतीति के दृष्टान्त भी अज्ञजन वंचनामात्र के लिए ही हैं, क्योंकि भयकम्पादि कार्यों में सर्प निमित्त कारण है उपादान कारण नहीं। प्रतिबन्धक प्रारब्ध के बल से अविद्या लेश द्वारा भी जगत् की स्थिति का समर्थन नहीं किया जा सकता। क्योंकि प्रारब्ध का उपादान कारण भी अविद्या ही है। अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर प्रारब्ध की भी स्थिति सम्भव नहीं।

(ख) आक्षेप समाधान

लेखक अपने को लौकिक तथा अलौकिक पदार्थों के निर्णय के लिये, शास्त्र को ही सर्वोपरि प्रमाण मानने वाला भी कहते हैं पुनः अविद्या को

जगत् का उपादान कारण कहने वाली श्रुतियों के विद्यमान रहते हुए भी, जगत् का अविद्या को उपादान कारण मानने में युक्ति विरोध भी देते हैं, यह उचित नहीं।

अविद्या की निवृति हो जाने पर जगत् की प्रतीति होना किसी प्रकार संभव नहीं, इसमें तो आक्षेप की कोई बात ही नहीं क्योंकि इसे तो हम भी मानते हैं, क्योंकि विदेहमुक्त की अविद्या समाप्त हो जाती है तथा उसको जगत् की प्रतीति भी कभी नहीं होती।

कारण रूप सर्प की निवृत्ति होने पर भी कार्य रूप भय कम्पादि प्रतीति के दृष्टान्त भी अज्ञजन वंचना मात्र के लिए ही हैं यह कथन भी वेदान्त की प्रक्रिया समझे बिना ही हैं। क्योंकि जिज्ञासु को जब यह शंका होती है कि तत्वज्ञानियों को शोकादिक कैसे होते हैं ? तब कहा जाता है कि जैसे रज्जु तत्वज्ञ को भय कम्पादि होते हैं। भाव यह है कि रज्जु सर्प को देख भयभीत कम्पित पुरुष को रज्जु जानकर यह सर्प नहीं है ऐसा बोध हो जाता है पुनरपि सर्प संस्कार से भय कम्पादि कार्य किंचित्काल के लिये होते रहते हैं। उसी प्रकार आत्म तत्वज्ञ में भी शोकादिक प्रतीत होते रहते हैं। जैसे दृष्टान्त में सर्प प्रतोति कम्पादि का निमित्त कारण है, उसी प्रकार दार्ष्टान्त में जगत्प्रतीति ही शोकादि का निमित्त कारण है। जैसे दृष्टान्त में अविद्या के नष्ट होने पर भी तीव्र संस्कार से किंचित्काल के लिए भय कम्पादि की अनुवृत्ति होती रहती है, उसी प्रकार विद्वान् की अविद्या की आवरण शक्ति मात्र के नष्ट होने से जगत्प्रतीति रहते शोकादि की अनुवृत्ति बनी रहती है इसमें तो आपत्ति ही क्या।

इस पर यदि प्रश्न उठाया जाय कि दृष्टान्त में तो रज्जु तत्व के ज्ञाता की प्रतीति के समान आत्म तत्वज्ञ की जगत्प्रतीति समाप्त हो जायगी तब जगत्प्रतीति कैसे संभव है तो इस पर हमारा कहना यही है कि प्रारब्ध से जगत् प्रतीति होती रहती है।

उपरोक्त कथन पर यदि यह आक्षेप किया जाय कि प्रारब्ध का उपादान कारण अविद्या ही है अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर प्रारब्ध की स्थिति भी संभव नहीं। इसका समाधान यही है कि अविद्या की दो शक्तियां होती हैं एक आवरण शक्ति द्वितीय विक्षेप शक्ति। जहां दोनों शक्तियाँ अप्रतिबद्ध ज्ञान से एक साथ नष्ट हो जाती हैं वहां कल्पित की प्रतीति भी समाप्त हो जाती है। जहां प्रतिबद्ध ज्ञान से आवरण शक्ति मात्र की निवृत्ति होती है वहां

कल्पित की प्रतीति होती रहती है। अतएव प्रारब्ध से प्रतिबद्ध ज्ञान से आवरण शक्ति मात्र की निवृत्ति होने से परिशिष्ट विक्षेप शक्ति रूप अविद्या लेश के बल से कल्पित जगत् की प्रतीति बनी रहती है। यद्यपि उपादान कारण के निवृत्त होने पर उपादेय अर्थात् कार्य नहीं रह सकता तथापि प्रारब्ध का उपादान कारण विक्षेप शक्ति रूपा अविद्या है उसका ज्ञान से नाश नहीं हुआ अतः प्रारब्ध की स्थिति में कोई बाधा नहीं। क्योंकि जिस आवरण शक्ति रूपा विद्या का नाश हुआ है वह प्रारब्ध का उपादान कारण नहीं।

(ग) आक्षेप

उक्त दोषों के कारण ही वेदान्त के अनुयायि हो कर भी वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली कारने बधितानुवृत्ति के सभी दृष्टान्तों तथा युक्तियों का खण्डन करके जीवन्मुक्ति मानने से इन्कार कर दिया। उन्होंने ने ही नहीं। किन्तु मायावादियों के आद्य आचार्य श्री शंकराचार्य ने भी कर्म निवृत्ति के प्रसंग में अतिस्पष्ट शब्दों में कहा है कि विद्या से अविद्या को निवृत्ति हो जाने पर अविद्या से अध्यारोपित पदार्थ किंचित् भी शेष नहीं रहता। तथाहि—**विद्वान् तु पुनः विद्ययाऽविद्यायांनिष्टायां शक्नोत्येव अशेषत : कर्म परित्यक्तुं अविद्याध्यारोपितस्य शेषानुपपत्तेः। गी० १८-४८।**

(ग) आक्षेप समाधान

अद्वैतबोधन करने के एक जीववाद तथा अनेक जीववाद ये दो प्रकार हैं। इन भिन्न भिन्न रूचि वाले अधिकारियों के लिए कहे हुए प्रकारों में से मुक्तावलिकार ने एक जीव वाद का आश्रय कर अद्वैत बोध कराने का प्रकार रचा है। उसमें दृष्टि समकाल सृष्टि का प्रतिपादन भी किया है। उसमें जो जीवन्मुक्ति आदिक की शंकाएं आईं उनका निराकरण किया है। द्वितीय अनेक जीववाद का प्रकार है उसमें जीवन्मुक्ति का समर्थन किया है। तथा जीवन्मुक्ति निराकरण का निराकरण किया है। हैं दोनों अद्वैत बोध के उपाय। जैसे किसी स्थान जाने के लिए पैदल मार्ग भी और यानमार्ग भी। एक व्यक्ति जिसके पास समय शारीरिक बल है तथा स्वच्छ वायु में कार्य करने का स्वभाव है वह यान मार्ग में दोष दिखाता है। द्वितीय व्यक्ति, जिसके पास समय आदि नहीं वह पैदल मार्ग में दोष देता है। पद यात्रा की रुचि वाला पैदल मार्ग से जाता है। यान की रुचि वाला यान मार्ग से जाता है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि पैदल मार्ग या यान मार्ग है ही नहीं या यान मार्ग पैदल मार्ग में दोषों के भय से उनका ग्रहण नहीं करते अपितु

अपनी रुचि की रक्षा के लिए ही परस्पर दोष दिखाते हैं। पैदल मार्ग में वास्तविक दोष सर्पादि की स्थिति होने पर तो उसे किसी प्रकार अपनायाँ ही नहीं जा सकता है। उसी प्रकार ज्ञान मार्ग में इसी प्रकार का कोई दोष का ज्ञान हो जाय तो वह भी नहीं अपनाया जा सकता। इसी प्रकार यदि जीवन्मुक्ति पक्ष में वास्तविक दोष वही कहा जा सकता है। जो अद्वैत बोध का बाधक होता। ऐसा दोष होने पर तो मुक्तावलीकार से परवर्त्ति कोई आचार्य उसे अपनाता ही नहीं। किन्तु परवर्ति आचार्यों ने उसे अपनाया भी है। अतः जो दोष दिखाये हैं वे केवल अधिकारी की रुचि बढ़ाने के लिये हैं न कि दोषों के भय से जीवन्मुक्ति पक्ष को त्यागने के लिए।

गीता १८-४८ के शंकर भाष्य से भी जीवन्मुक्ति का कोई विरोध नहीं। वहां प्रसंग यह है कि शंकराचार्य जी ने यह कहा कि अज्ञानी पुरुष सर्व कर्मों को नही त्याग सकता। विद्या से अविद्या के नष्ट हो जाने पर अविद्या से आरोपित का शेष रहना असंभव होने से विद्वान् सर्व कर्मों को त्याग देता है। इस शंकराचार्य जी के कथन में कहीं भी जीवन्मुक्ति का निषेध नहीं। अतः इस वाक्य से शंकराचार्य जी को जीवन्मुक्ति मान्य नहीं ऐसा लेखक का कहना अज्ञजन वंचना मात्र है।

इस वाक्य में तो ज्ञानी पुरुष का सर्व कर्मों का त्याग कहा है। वह जीवन्मुक्ति मान कर भी संभव है। क्योंकि **क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।** इस श्रुति के अनुसार ज्ञान होने पर संचित कर्मों का नाश हो जाने से, "**यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिश्यन्ते एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिश्यन्ते**" इत्यादि श्रुति के अनुसार आगामि कर्मों के साथ विद्वान का सम्बन्ध न होने से तथा प्रारब्ध का जीवन्मुक्ति दशा मे भोग कर क्षय हो जाने से भी ज्ञानी के सर्व कर्मों का त्याग हो ही जाता है। जब सर्व कर्मों का त्याग जीवन्मुक्ति मानकर भी संभव है, तब शंकराचार्य जी के **विद्वान् तु विद्यया अविद्यायां निवृत्तायां शक्नोत्येव अशेषतः कर्म परित्यक्तु**मित्यादि वाक्य को जीवन्मुक्ति न मानने में प्रमाण देना कथमपि सभव नहीं।

सप्तम आक्षेप

इस सप्तम आक्षेप का थोड़ा थोड़ा अंश उद्धृत कर समाधान करेंगे। आक्षेपांश— 'जगत् को मिथ्या कहना श्रुति सम्मत तो है ही नहीं। क्योंकि जिस प्रस्थानत्रयी को परम प्रमाण मान कर श्री शंकराचार्य जी ने उस पर भाष्य लिखकर मायावाद की स्थापना की है, उस प्रस्थानत्रयी में जगत् को मिथ्या

कहीं भी नहीं कहा।" लेखक के इस आक्षेप का भाव यही निकलता है कि यदि प्रस्थानत्रयी में कहीं भी "जगत् मिथ्या है" ऐसी नहीं लिखा अतः जगत् को मिथ्या कहना श्रुति सम्मत नहीं।

समाधान—इस पर हमारा कहना यह है कि जैसा कि हम अनेक बार कह आए हैं, लेखक भी अपने को पदार्थों का निर्णय करने में शास्त्र की ही परम प्रमाण मानने वाला मानते हैं। फिर शास्त्रों में भी वेद का शिरोभाग भूत उपनिषदों में भी मुख्य दश उपनिषद तथा उनका सार भूत गीता, और उनके ऊपर पूज्य मीमांसाभूत वेदान्त दर्शन, एतत्त्रयात्मक प्रस्थानत्रयी को लेखक परम प्रमाण मानेंगे, इसका तो कहना ही क्या है। इस प्रकार प्रस्थानत्रयी को परम प्रमाण मानने वाले आक्षेपकर्ता लेखक से हमारा यह प्रश्न करना स्वाभाविक है कि आत्मा तथा परमात्मा के लिए प्रस्थानत्रयी में कहीं भी निराकार शब्द का प्रयोग नहीं आया है तो क्या लेखक आत्मा तथा परमात्मा को निराकार मानना छोड़कर केवल साकार शरीर मात्र ही मानेंगे। यदि कहें शरीर ही लेखक का आत्मा तथा परमात्मा है तो अपने परमान्य इस चार्वाक सम्मत देहात्मा को समन्वय में स्थान न देकर उसका त्याग क्यों किया।

इस पर यदि यह कहा जाय कि प्रस्थानत्रयी में यद्यपि निराकार शब्द का प्रयोग तो नहीं किया तथापि साकार पदार्थों के जो स्थूलता आदि धर्म हैं उनका अस्थूल इत्यादि वाक्यों से निषेध किया है अतः आत्मा परमात्मा को साकार शरीरादि रूप लेखक नहीं मानते। इस पर हमारा यह कहना है फिर तो एतरेय उपनिषद् में अवस्थात्रयात्मक जगत् को तस्यत्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः इस वाक्य से स्वप्न रूप कहा है। स्वप्न मिथ्या मात्र ही होता है। अतः यहां स्वप्न कह कर संसार को उपनिषद् में मिथ्या कहा है।

मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्। ब्र० सू० ३-२-३ इस सूत्र में स्वप्न को माया मात्र कह कर मिथ्या कहा है। **तदनन्यत्वमारम्भण शब्दादिभ्यः** ब्र० सू० २-१-१४ में कारण ब्रह्म से जगत्कार्य का भेद कर के अभाव कहा है। अर्थात् कार्य जगत् की ब्रह्म से भिन्न कोई सत्ता नहीं अतः जगत् को मिथ्या कहा है। **वाचारंभणं विकारो नामध्येयम्** इस छाँदोग्य श्रुति में किसी भी कारण के कार्य को नाम मात्र कह कर ब्रह्म भूत कारण के कार्य भूत जगत् को नाम मात्र (मिथ्या) कहा है।

न रूपमस्येहतथो पलभ्यते गीता अ० १५-३ में इस लोक में इस संसार

का जैसा रूप प्रसिद्ध है वह विचार दशा में नहीं प्रतीत होता है ऐसा कह कर संसार को मिथ्या कहा है, क्योंकि सत् पदार्थ तो विचार दशा में जैसा का तैसा प्रतीत होता है मिथ्या रज्जु सर्पादि का ही विचार दशा में प्रसिद्ध रूप नहीं रहता।

आक्षेपांश—इतना (जगत् को मिथ्या न कहना) ही नहीं किन्तु मिथ्या, कल्पित, अध्यारोपित, विवर्तादि शब्दों का तथा मायावादि के रज्जु सर्प, मृग तृष्णादि दृष्टान्तों का भी उल्लेख प्रस्थान त्रयी में कहीं नहीं मिलता।

समाधान—इस आक्षेपांश की अंशतः वाक्यावली पर हम पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं लेखक प्रस्थानत्रयी में जगत् के मिथ्यात्व कहने की बात को छोड़कर कहते हैं कि मिथ्यादि शब्दों में से कोई शब्द प्रस्थान त्रयी में नहीं है किन्तु प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत श्री मद्भगवद्गीता भी है उसे गीता के

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसास्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।। गीता० ३-६
यदहंकार माश्रित्य न योत्स्य इति मन्य से।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ।। गीता० १८-५६

इन श्लोकों मे ही मिथ्या शब्द आया है। जब प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत गीता सर्व प्रसिद्ध ग्रंथ है उसमें मिथ्या शब्द विद्यमान रहने पर भी प्रस्थानत्रयी में मिथ्यादि शब्दों का भी उल्लेख कहीं नहीं मिलता। लेखक का ऐसा कथन क्यों ? यह एक विचारणीय विषय है।

विद्वच्चक्रचूणामणियतिवर अनन्त श्री विभूषित श्रीकर पात्रि जी महाराज के साथ लेखक का उन आक्षेपों पर कई बार परामर्श हुआ है, जिन आक्षेपों को अपने सर्वदर्शन-समन्वय नामक ग्रन्थ में वेदान्त के खण्डन के रूप में उछाला है। परन्तु उन आक्षेपों के दिये हुए समाधानों का न तो अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया न उन पर कोई विमर्श हो किया, ऐसा क्यों। यह प्रश्न होने पर यही समाधान होता है कि 'अन्धे के हाथ बटेर लग गई की तरह जैसे तैसे २० वर्ष में समन्वय हाथ लगा है, यदि करपात्रि जी महाराज के दिये समाधानों का उल्लेख कर दिया तथा उन पर टीका टिप्पणी की सामर्थ्य भी नहीं, तो ऐसी दशा में विचार करने पर युक्ति प्रमाणहीन समन्वय का ही समय आ जायगा यह विचार कर अपने समन्वय के मोह तथा पक्षपात पूर्वक आग्रह ने लेखक को करपात्रिजी महाराज के समाधान

के उल्लेख तथा उनपर विचार करने से रोक दिया"।

यद्यपि लेखक ने आग्रह छोड़ कर निष्पक्ष दृष्टि की दुहाई अपने सर्व दर्शन समन्वय ग्रंथ में दी है देना उचित भी है। तथापि कथन तथा आचरण में बहुत अन्तर होता है। अतएव लेखक के समन्वय के पक्षपात पूर्वक आग्रह ने गीता में लिखे मिथ्या शब्द पर आवरण डालकर उनको दीपक तले अन्धेरे की पहेली का शिकार बना दिया है।

अब प्रस्थानत्रयी के स्वरूप पर विचार करते हैं। वेदान्त के तीन प्रस्थान माने जाते हैं (१) गीता (२) उपनिषद् (३) ब्रह्म सूत्र। गीता तथा ब्रह्म सूत्र का स्वरूप तो स्पष्ट है परन्तु उपनिषदों का स्वरूप अस्पष्ट हैं अर्थात् प्रस्थान के अन्तर्गत कितनी उपनिषदें हैं यह बात अस्पष्ट जैसी है। अतः यहां यह शंका होती है कि प्रस्थान के अन्तर्गत कितनी उपनिषदें हैं? इसके समाधान के लिए सहज ही में यह बात आ जाती है कि जितने उपनिषदों पर भाष्यकार ने भाष्य किया है वे दश उपनिषदें ही प्रस्थानान्तर्गत हैं।

परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है क्योंकि कौषीतकि उपनिषदादि उपनिषद् के वाक्यों पर भी जगद्वाचित्वात् ब्र० सू० १/४/१६ आदि सूत्र रचना करके, व्यास जी महाराज ने इन दश उपनिषदों से अतिरिक्त कौषीतकि आदिक उपनिषदों को भी उपनिषद् प्रस्थान के अन्तर्गत माना है। उसी प्रकार व्यास सूत्रों पर तथा दश उपनिषदों के भाष्य कर्ता श्री शंकर भगवान् ने भी व्यास सूत्रों पर भाष्य करते हुए महानारायण श्वेताश्वतर कौषीतकि जाबालि आदि उपनिषदों के प्रमाण दिये हैं। अतः सिद्ध होता है कि भाष्यकार को भी दश उपनिषदों से अतिरिक्त भी उपनिषदें उपनिषत् प्रस्थानान्तर्गत रूप से मान्य हैं। लेखक ने भी अपने ग्रन्थान्तर्गत आत्मवाद प्रकरण के ३५ वें पृष्ठ पर अन्नपूर्णा उपनिषद का वाक्य प्रमाण दिया है। जिससे यह सिद्ध होता है कि लेखक अन्नपूर्णा उपनिषद को प्रमाण मानकर दश उपनिषदों से अतिरिक्त उपनिषदों को भी उपनिषत् प्रस्थान के अन्तर्गत मानते हैं।

उपरोक्त विवेचन से जब यह सिद्ध होता है कि व्यास, शंकर तथा स्वयं लेखक को भी जब उपनिषद रूप प्रस्थान के अन्तर्गत दश तथा उन से अतिरिक्त भी प्रसिद्ध उपनिषदें मान्य हैं, तब हमारा यह कथन स्वाभाविक हो जाता है कि जिन शब्द तथा दृष्टान्तों पर आपत्ति उठाई है वे शब्द तथा दृष्टान्त उपनिषत्प्रस्थान में आए हैं। अतः लेखक का यह कथन कि 'मिथ्या, कल्पित, अध्यारोपित, विवर्तादि शब्दों का तथा मायावादि के रज्जु सर्प, मृगतृष्णादि दृष्टान्तों का भी उल्लेख प्रस्थानत्रयी में कहीं नहीं मिलता।"

मिथ्यावंचना मात्र है।

स्वप्ने स जीवः सुखदुख़भोक्ता स्वमाययाकल्पितजीवलोके। कैवल्योपनिषत् श्रु० १३। अर्थ—वह जीव स्वप्नावस्था में अपनी माया (अविद्या) से कल्पित जीव लोक में सुख दुःख का भोक्ता होता है।

न आत्मनो जातिरात्मनो जातिर्व्यवहार कल्पिता। निरालम्बोपनिषत्। अर्थ—जाति आत्मा की नहीं, जाति तो व्यवहार से कल्पित है। इन कैवल्य तथा निरालम्ब उपनिषदों में कल्पित शब्द आया है।

कदलीगर्भ इवासारं नट इव क्षणवेषं चित्रभित्तिखि मिथ्यामनोरमम्। मैत्रायणी चतुर्थ प्रपाठक २

अर्थ—यह जगत् केले के मध्य की तरह सार रहित, नट के समान क्षण क्षण में वेष बदलने वाला, चित्रभित्ति के समान मिथ्या सुन्दरता युक्त है।

तप इति च ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्यपरोक्ष ज्ञानाग्निना इत्यादि

अर्थ—ब्रह्म सत्य है जगत् मिथ्या है इस अपरोक्ष ज्ञानरूप अग्नि ~~मिसलिस~~ से ब्रह्मादि ऐश्वर्य की आशा से सिद्ध संकल्प के बीज का नाश ही तप है। इन मैत्रायिणी तथा निरालम्बादि उपनिषदों में जगत् के लिए मिथ्या शब्द लिखा है।

अध्यारोपापवादतः स्वरूपं निश्चयी कर्तुं शक्यते। निरालम्ब

अर्थ—जगत् के अध्यारोप और अपवाद से स्वरूप निश्चय किया जा सकता है। इस निरालम्बोपनिषद वाक्य में जगत् को अध्यारोप शब्द का प्रयोग कर अध्यारोपित कहा है।

अब तेजो बिन्दु उपनिषद के कुछ वाक्यों का उद्धरण देकर इस प्रसंग को समाप्त करेंगे।

यद्दृश्यं तदसत् ।३।५८। **सर्वं मिथ्या न संशयः** ।५।४३।

सर्वं शशविषाणवत् ।५।७५। **मिथ्या यथा मरुमरीचिका** ।६।७३।

शुक्तिकारजतं सत्यं भूषणं चेज्जगत भवेत् ।६।७६।

रज्जुसर्पेण दष्टश्चेत् नरो भवतु संसृतिः ।६।७७।

स्वप्नदेहो यथाऽध्यस्त स्तथैवायंहि देहकः। नाद बिन्दु-२४

उपरोक्त वाक्यों से तेजो बिन्दु उपनिषद् में जगत् के लिए असत्, मिथ्या, शब्द तथा शशविषाण मरुमरीचिका, शुक्तिरजत, रज्जु सर्प इन दृष्टान्तों का कथन किया है। तथा नादबिन्दु के वाक्य से स्वप्न दृष्टान्त

देकर देह को अध्यस्त कहा है।

भाव यह है कि प्रस्थानत्रयान्तर्गत उपनिषत् में वे सर्व शब्द तथा दृष्टान्त आए हैं जिन पर लेखक ने आपत्ति की है। अतः संसार को मिथ्या मायिक मानने में कोई आपत्ति नहीं।

आक्षेपांश :—युक्तियों से भी जगत् को मिथ्या नहीं सिद्ध किया जा सकता। क्योंकि अधिष्ठान के सामान्य अंश का ज्ञान विशेष अंश का अज्ञान और अधिष्ठान से पृथक् ज्ञाता चेतनादि अध्यास की सामग्री·······होना भी अति आवश्यक होता है जोकि ब्रह्म में आपको मान्य नहीं।

इस आक्षेप अंश पर हमको प्रथम तो यह कहना है कि वेदान्त के 'सिद्धान्त लेशादि' अनेक ग्रन्थों में इन प्रश्नों को उठाकर उत्तर दिये हैं। उन उत्तरों पर कोई भी विमर्श बिना किये जैसे का तैसा आक्षेप लिख देने का कारण क्या ? यह स्वयं पाठक विचारें हम तो अपना विचार पीछे प्रकट कर ही चुके हैं कि इस का कारण है समन्वय मोह।

आक्षेप-समाधान—जैसा कि हम भागवत-प्रसंग नामक प्रकरण में दिखा चुके हैं कि माया (अज्ञान) ऐसी विचित्र शक्ति है कि वह निरंश में भी सांशता से होने वाले कार्य को सम्पादन करने में कुशल है। अतः ब्रह्म में सामान्य अंश का ज्ञान तथा विशेष अंश में अज्ञान रूप अध्यास सामग्री संभव होने से युक्तियों से भी जगत् को मिथ्या सिद्ध किया जा सकता है।

अधिष्ठान से पृथक ज्ञाता चेतन हो तभी अध्यास हो ऐसा नियम नहीं। क्योंकि स्वप्न द्रष्टा जीव स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान भी है तथा आप ही ज्ञाता भी है। अतः जड़वस्तु अधिष्ठान मानी जाय वहां भले ही चेतन ज्ञाता, भिन्न माना जाय किन्तु जहां चेतन अधिष्ठान है वहां ज्ञाता भिन्न नहीं होता। तब जगत अध्यास में अधिष्ठान से भिन्न ज्ञाता होने की शंका तो किंचिद्विचार शील पुरुष के हृदय में भी नहीं उठ सकती, जो शास्त्र विचारक हैं उनका तो कहना ही क्या !

इन्द्रिय से जिस पदार्थ का ग्रहण हो उसमें ही अध्यास होता है,ऐसा भी नियम नहीं क्योंकि इन्द्रियों से अग्राह्य भी आकाश में नीलतादि का अध्यास होता है। अतः इन्द्रिय से अग्राह्य भी स्वतः प्रकाश ब्रह्म में जगत का अध्यास युक्ति संगत है।

आक्षेपांश—आकाश का इन्द्रिय अग्राह्य होना सर्वमान्य न होने के कारण उसे दृष्टान्त रूप में उपस्थित नहीं किया जा सकता।

समाधान—अमुक इन्द्रिय से आकाश का ज्ञान होता है यह न बताकर केवल इतना कह देना कि 'आकाश का इन्द्रिय अग्राह्य होना सर्वमान्य न होने के कारण उसे दृष्टान्त में उपस्थित नहीं किया जा सकता" पर्याप्त नहीं हैं। क्योंकि लेखक का कथन सर्वमान्य नहीं।

इस पर यदि आक्षेप किया जाय कि 'श्री शंकराचार्य जी ने भी आकाश को बाह्येन्द्रिय ग्राह्य माना है—देखिये बाह्येन्द्रियविषये जागरित स्थाने नमसि (छा० ३।१२।६) फिर भी अध्यासभाष्य में 'अप्रत्यक्षेहि आकाशे' कहकर स्ववचन विरुद्ध दृष्टान्त में उपस्थित कैसे करते हैं।

इसका समाधान यह है कि—अध्यास भाष्य में अध्यास का प्रसंग है नील रूपादि का अध्यास द्रव्यभूत आकाश में होता है, वह आकाश, रूप तथा स्पर्श गुण से रहित होने से किसी इन्द्रिय का विषय नही। उसी में नीलता का अध्यास है। छांदोग्य उपनिषद् में आकाश के तीन भेद कहे। उस पर भाष्यकार ने यह शंका उठाकर कि एक आकाश तीन प्रकार का कैसे कहा, उस पर भाष्यकार ने समाधान देते हुए कहा '**बाह्येन्द्रिय विषये जागरित स्थाने नभसि दुःख बाहुल्यं दृश्यते**"। अर्थ—बाह्येन्द्रिय के विषय जिसमें विद्यमान रहते हैं, उस जागरित स्थान भूत आकाश में दुःख की अधिकता दिखाई देती है। इस वाक्य में बाह्येन्द्रिय विषय आकाश है ऐसा नहीं कहा किन्तु बाह्येन्द्रियों के विषय शब्द घट पटादि जो पदार्थ, उनका आश्रय आकाश है यह कहा है। तभी उसमें दुःख को अधिकता दिखाई देने की बात संभव हो सकती है। अतएव भाष्य टीकाकार आनन्द गिरि जी ने इस पद की व्याख्या करते हुए कहा है '**बाह्येन्द्रिय विषयत्वं तद्विषय शब्दाद्याश्रयत्वम्**' अर्थात् आकाश म बाह्येन्द्रिय विषयपना कहा उसका भाव यह है कि बाह्येन्द्रिय के विषयभूत जो शब्दादि पदार्थ हैं उनका आश्रय आकाश है, न कि बाह्येन्द्रिविषय आकाश है, यह भाव।

सप्तमी बहुव्रीहिसमास होने से आनन्द गिरिजी ने प्रसंगानुकूल अर्थ किया है। लेखक तो न प्रसंग देखते हैं, न प्रसगानुकूल अर्थ, और न ऐसे स्थान पर अपना ही अर्थ करते हैं, किन्तु अपने मन्तव्य के अनुसार यत्किंचित शब्दों का साम्य देख अर्थ न समझ कर केवल वाक्य मात्र लिख देते हैं। ऐसा करने से सुकोमलमति जिज्ञासुओं की बुद्धि में भ्रम पैदा करने से अतिरिक्त और कोई फल नहीं। सारांश यह है कि बाह्येन्द्रिय का विषय आकाश को छांदोग्य में जब कहा ही नहीं तब अध्यासभाष्य के बाह्येन्द्रियों से अप्रत्यक्ष कहने वाले वाक्य से विरोध कहना ही अपराध है।

लेखक ने सप्तम आक्षेप के अवशिष्ट अंश में विस्तार तो बहुत किया है किन्तु सार इतना है कि माया वादियों का कूटस्थ ब्रह्म संसार का कल्पक नहीं हो सकता। अज्ञान विशिष्ट अथवा उपहित ब्रह्म को भी अध्यारोपक नहीं कह सकते क्योंकि ऐसा मानने पर भी ब्रह्म हो आरोपक मानना होगा। अविद्या तो निमित्त मात्र है। क्योंकि रज्जु सर्पादि स्थलों में भी अविद्या द्वार मात्र हैं।

उक्त प्रकार से ब्रह्म,स्व में कर्तृत्व भोक्तृत्व का अध्यारोपक नहीं अतएव ब्रह्म ज्ञान से कर्तृत्वादि बन्ध की निवृत्ति भी सम्भव नहीं। यहां और भी व्यर्थ बहुत कुछ कहकर अन्त में कहा है कि—विकारी हो जाने के भय से आत्मा में दुःख निवर्तक आगन्तुक ज्ञान का उदय न मानना तो स्पष्ट ही स्ववचन व्याघातक होने से उन्मत्त प्रलाप को ही सिद्ध करता है।

यद्यपि लेखक के उक्त आक्षेप का समाधान हमने पहिले भी दिया हैं। तथा वह समाधानात्मक हमारा लेख बम्बई मे प्रकाशित वेदान्त विचारों की प्रचारक मुख्य पत्रिका चिन्तामणि के ११ वें वर्ष के द्वितीय अंक में १६४ से १७० पृष्ठ तक ७ पृष्ठों में कर्तृत्वाभिमान—एक चिन्तन नाम से छपा भी है। परन्तु उस पर विचार किये बिना पुनः लिख दिया कि अविद्या द्वार मात्र होती है। किन्तु यहां हमारा समाधान यही है कि अज्ञान विशिष्ट ब्रह्म ही कल्पक है, अविद्या कल्पना का उपादान कारण होने से उसी में कल्पना का उदय होता है, अतः ब्रह्म की कूटस्थता में अन्तर कुछ नहीं आता। रज्जु सर्पादि स्थलों में अविद्या द्वार (निमित्त) मात्र प्रसिद्ध है या देखी जाती है। ऐसा कहना भी लेखक का भ्रम मात्र है। क्योंकि दृष्ट पदार्थ में विवाद नहीं होता, किन्तु अविद्या की निमित्त मात्रता में तो विवाद है क्योंकि वेदान्ति उसे सर्प का उपादान कारण मानता है। वेदान्ति युक्ति से सिद्ध भी करता है कि यदि अज्ञान को उपादान कारण नहीं माना जायगा तो उपादान के बिना कोई कार्य होता नहीं तत्पुनः सर्प का उपादान कारण देवदत्त को या रस्सी को ही मानना होगा। सो सम्भव नहीं यदि देवदत्त उपादान कारण है तो उपादान कारण से ही संलग्न (तादात्म्यापन्न) कार्य होता है; अतः देवदत्त के शरीर मन या आत्मा से ही संलग्न सर्प दिखाई देना चाहिये किन्तु ऐसा दृष्ट न होने से देवदत्त उपादान कारण सम्भव नहीं। यदि रज्जु को परिणामी उपादान कारण मानोगे तो सुवर्ण से कुण्डल की भान्ति रज्जु से सर्प बन जाने पर पुनः जैसी की तैसी रज्जु का ज्ञान सम्भव नहीं। यदि विवर्तोपादान कारण मानोगे तो वेदान्ति का ही मार्ग बलात् अपनाना पड़ेगा। रज्जु अवच्छिन्न चेतन के

आश्रित अज्ञान का उपादेय सर्प है। अतः रज्जु प्रदेश में प्रतीत होता है यही निभ्रान्ति निर्णय है।

उक्त प्रकार से अज्ञान विशिष्ट ब्रह्म ही कर्तृत्व भोक्तृत्व का अध्यारोपक है, अतएव ब्रह्म ज्ञान से कर्तृत्वादि बन्ध की निवृत्ति भी सम्भव है। चतुर्थ आक्षेप प्रकरण के अन्तर्गत (क) दोष—समाधान नामक शीर्षक में अनुभव के अनुसार यह सिद्ध कर आये हैं कि अनुभव में अहमर्थ की निरूपकता सिद्ध होने से अहमर्थ में उत्पन्न ज्ञान से ही ब्रह्म विषयक अज्ञान की निवृत्ति हो जाने से ब्रह्म में ज्ञानोदय की कल्पना उचित नहीं। यदि वेदान्तियों ने कहीं ऐसा लिखा होता कि ब्रह्म में आगन्तुक ज्ञान उदय होता है पुनः ब्रह्म (आत्मा) में उसका उदय न मानते तब तो स्ववचन व्याघात होता। किन्तु केवलात्मा (ब्रह्म) में आगन्तुक ज्ञान का उदय वेदान्तियों ने कहीं नहीं लिखा, तत्रापि लेखक स्ववचन विरोध बताकर अपने को उत्तम विद्वान् सिद्ध न मालूम क्यों करना चाहते हैं? यह तो वे स्वयं ही जान सकते हैं।

आक्षेपांश—स्वप्न के दृष्टान्त से भी जगत् को मिथ्या सिद्ध नहीं किया जा सकता। कारण कि जब तक जाग्रदवस्था से भिन्न किसी सत्य अवस्था का और उस सत्य अवस्था में होने वाले सत्य ज्ञान द्वारा जाग्रत अवस्था का बाध होना सिद्ध न किया जा सके तब तक जाग्रत् अवस्था को मिथ्या नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्वप्न अवस्था के बाध में उक्त नियम ही देखा जाता है, इत्यादि।

समाधान—स्वप्न में भी स्वप्नान्तर प्रतीत होता है, उस स्वप्नान्तर का बाध स्वप्न में देखा जाता है, जिसका कि बाध जाग्रत् में होता है। अतः यह नियम नहीं कि मिथ्या पदार्थ का बाध सत्य अवस्था में ही होता है। तब यह आपत्ति किसी प्रकार नहीं दी जा सकती कि मिथ्या पदार्थ का बाध सत्य अवस्था में ही होने से जाग्रत् से भिन्न किसी सत्य अवस्था को वेदान्ति सिद्ध करे। भाव यह है कि मिथ्या स्वप्न में मिथ्या ज्ञान से मिथ्या स्वप्नान्तर का तथा कभी-कभी स्वयं स्वप्न का स्वप्न में बाध अनुभव होता है। अतः मिथ्या जाग्रत् प्रपंच का मिथ्या ब्रह्म ज्ञान से भी बाध होने में कोई आपत्ति नहीं।

आक्षेपांश—प्रबल युक्तियों के बिना दृश्यत्वादि कुछ समानताओं को लेकर जाग्रदवस्था को दृष्टान्त बनाकर स्वप्न अवस्था को ही सत्य क्यों नहीं मान लेते? इत्यादि—

समाधान—यदि लेखक की दृष्टि में स्वप्न सत्य है तो हृषीकेश में

व्यापार का लक्षण है, जिसका अर्थ यह है कि कपालादि से जन्य होकर कपालादि के कार्य घटादि का कारण जो कपालादि संयोगादिक है, वही व्यापार है इस लक्षण में संयोग रूप व्यापार को घटादि के प्रति कारण कहा है। अतः जिसे व्यापार कहा जाय, तथा कारण न माना जाय यह दोनों वचन परस्पर विरुद्ध हैं।

"अज्ञान को भावरूप मानकर भी उसे अन्तःकरण की स्फुट या अस्फुट वृत्ति रूप अवश्य ही आपको मानना होगा, अन्यथा अन्तःकरण की वृत्तिरूप ज्ञान से उसका नाश न हो सकेगा।" क्योंकि वृत्तिरूप ज्ञान से वृत्तिरूप अज्ञान का नाश हो सकता है। अज्ञान को अन्तःकरण की वृत्तिरूप मान लेने पर अज्ञान का आश्रय भी अन्तःकरण ही मानना होगा। ऐसी दशा मे अन्तःकरण अज्ञान का कारण ही सिद्ध होगा। इन दोषों से बचने के लिये यदि अज्ञान को अन्तःकरण की वृत्तिरूप नहीं मानकर अन्य किसी रूप में माना जाएगा तो अन्तःकरण की वृत्तिरूप ज्ञान से उसका नाश नहीं हो सकेगा।" यह अष्टम आक्षेप का अन्तिम अंश है।

यह आक्षेपांश इतना नगण्य है कि इस के लिखने की भी आवश्यकता नहीं थीं, यद्यपि आक्षेपक ने तो इसे बड़ा प्रौढ़ आक्षेप समझ कर लिखा है तथापि इस आक्षेप के तो हाथ पैर ही कुछ नहीं। यदि आक्षेपक से पूछा जाय कि यदि अन्तःकरण की वृत्तिरूप भाव अज्ञान को न माना जाय तो वृत्तिरूप ज्ञान से उसका नाश क्यों नहीं होगा? तब इसका उत्तर यही दिया जाय कि, "वृत्तिरूप ज्ञान से तो वृत्तिरूप अज्ञान का नाश होता है अन्य का नहीं।' इस पर हमारा (वेदान्ति का) यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि ऐसा नियम आपने कहां देखा है? इसके उत्तर में सिवाय आकाश की ओर झांकने के कोई वाक्य प्रयोग नहीं किया जा सकेगा। पाठकगण स्वयं सोचें क्या सूर्य के प्रकाश से निवृत्त होने वाला तम सूर्य के प्रकाश रूप है। यदि नहीं है। तब यह नियम कैसे स्थिर हो सकता है कि अन्तःकरण की वृत्ति से निवृत्ति को प्राप्त होने वाला अज्ञान अन्तःकरण की वृत्तिरूप ही होगा। अतः ऐसा नियम सिद्ध न होने पर भी उसे लिखकर वे शिर पैर का आक्षेप कर देने से दार्शनिकता का प्रमाण पत्र प्राप्त करने की आशा दुराशा मात्र हैं।

भाव यह है कि अन्तःकरण की वृत्ति रूप ज्ञान से अन्तःकरण की वृत्तिरूप अज्ञान की ही निवृत्ति होगी, अन्य की नहीं, ऐसा कोई नियम नहीं, अतः अन्तःकरण अज्ञान का कारण नहीं अपितु कार्य हो है। नियम यह है कि

प्रकाश तथा अन्धकार का विरोध है, उसी प्रकार ज्ञान तथा अज्ञान का विरोध है। जैसे अन्धकार सूर्य या सूर्य के प्रकाश रूप तथा उसका कार्य न होने पर भी सूर्य के प्रकाश से निवृत्त हो जाता है। उसी प्रकार वृत्तिज्ञान से वृत्तिरूप न होने पर भी अज्ञान निवृत्तहो जाता है इसीलिए उसे अन्तःकरण की वृत्ति रूप मानने की भी आवश्यकता नहीं। पुनः इस आक्षेप में दोषों का भी अवसर कहां।

नवम-आक्षेप

अज्ञान को चाहे भावरूप मानें या अभावरूप मानें एक आत्मवाद में बद्ध मुक्त व्यवस्था किसी प्रकार नहीं हो सकती। अज्ञान को एक मानने पर उस एक अज्ञान की स्थिति पर्यन्त एक अद्वितीय आत्मा बद्ध बना रहेगा और उस एक अज्ञान के नाश होने पर वही एक अद्वितीय आत्मा मुक्त होगा। यही कारण है कि एक जीववादी वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावलीकार ने वामदेवादि के मुक्ति प्रतिपादक शास्त्र वचनो को ऐतिहासिक सत्य न मान कर केवल अर्थ वाद मात्र माना। यह नवमाक्षेप का प्रथमांश है।

इस आक्षेप का समाधान यह है कि वेदान्ति एक आत्मवादी है, उस निर्गुण आनन्द स्वरूप आत्मा में भी गुणों तथा दुःख आदि का सम्बन्ध कराने वाले विचित्र अचिन्त्य शक्ति रूप अज्ञान से ही व्यवहार में सर्वव्यवस्था अनुभव में आ रही हैं। अतः यह आक्षेप करना कि बद्ध मुक्त व्यवस्था न बनेगी भारी भूल है। भागवत प्रसंग में हम भागवत वचन से यह सिद्धकर आए हैं कि माया या अज्ञान ऐसा विचित्र पदार्थ है कि युक्ति से विरुद्ध अर्थ को भी सिद्ध कर व्यवहार दशा में दिखा देता है। परमार्थतः तो बद्धमुक्त भेद व्यवस्था है ही नहीं। अतएव परमार्थतः उसे किसी भी वेदान्ताचार्य ने सिद्ध भी नहीं किया क्योंकि अद्वैत बोध का विघातक होने से सत्य बद्ध मुक्त भेद के निरूपण करने की आवश्यकता ही नहीं।

जिस उत्तम अधिकारी ने, जाग्रत् स्वप्न अवस्था में भेद दर्शन होता है तो दुःख होता है, सुषुप्ति में भेद दर्शन नहीं होता तो दुःख भी नहीं होता, इस अन्वय व्यतिरेक से भेद दर्शन को सर्व दुःख का कारण निश्चय कर लिया है। अतएव भेद तथा उसके निरूपण से परम विरक्त उस अधिकारी के लिए भेदाधारित व्यवस्थाओं को अनावश्यक समझकर वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावलीकार ने प्रातिभासिक रूप से वर्णन कर अद्वैत बोध का प्रकार रचा है। जीवन्मुक्त, विदेह मुक्त या बद्ध मुक्तादि जितने भेद हैं, उन्हें चाहे कोई वेदान्ति प्रातिभासिक मानें चाहे व्यावहारिक माने वे सर्व वेदान्ति

उस भेद व्यवस्था को मिथ्या ही मानते हैं। अतः अन्तिम प्रक्रिया में वे सर्व एक हैं। वे जानते हैं कि भेद ही दुःखादि भय का कारण है, अतः उसमें किसी का आग्रह नहीं, अद्वैत बोध कराने में ही उनका प्रयत्न है।

द्वितीयाक्षेपांश यह है कि "अनेक अज्ञान मानने पर भी एक आत्मा में बद्ध-मुक्त भेद व्यवहार नहीं हो सकता। एक नया दोष यह और होगा कि एक अज्ञान का नाश होने पर आत्मा को अपने में मुक्तता का अनुभव होगा। तो अनेक अज्ञान अभी और विद्यमान होने के कारण बद्धता का भी अनुभव होगा। इस प्रकार एक साथ बद्धता और मुक्तता का अनुभव एक ही आत्मा को होगा, परस्पर विरुद्ध होने के कारण माना नहीं जा सकता।"

समाधान—एक आत्मा में एक ही, असंभव को सम्भव कर दिखाने में समर्थ अज्ञान बद्ध मुक्त का भेद दिखा रहा है तब अधिक कल्पना गौरव दोष से युक्त नाना अज्ञान पक्ष मानने की वेदान्ति को अपेक्षा नहीं। यदि मान भी लिए जायें तब भी आक्षेपोक्त दोष सम्भव नहीं हैं। क्योंकि एक ही देवदत्त पुनः पुनः घट को देखता है आज देखा पुनः कल पुनः परश्वदिन, घट के ज्ञान होने पर अज्ञान का नाश हो जाता है। अज्ञान अनादि हैं नये उत्पन्न होते नहीं, अतः घट के अज्ञान भी अनन्त ही मानने होंगे। एक ज्ञान होने पर एक अज्ञान का नाश हो जाता है, अन्य अज्ञान बने रहते हैं, जिन का अन्य ज्ञानों से नाश होगा। उन अज्ञानों के विद्यमान रहने पर भी घट ज्ञानवान् देवदत्त को घटविषयक ज्ञातता और अज्ञाता दोनों एक काल में अनुभव नहीं होतीं तब अनेक अज्ञान बने रहने पर भी एकात्मविषयक ज्ञानवान् पुरुष को आत्म विषयक, ज्ञातता अज्ञातता कैसे संभव हैं। तथा उन से होने वाली मुक्तता बद्धता का भी एक काल में अनुभव कैसे हो सकता है। अतः आक्षेपक का दिया दोष निर्मूल है।

"अनेक अज्ञान एक ही आत्मा के अपने हैं। अतः बद्ध-मुक्त भेद व्यवहार नहीं बनेगा। आत्मा अंश रहित प्रदेश रहित मान्य होने के कारण एक आत्मा के जिस अंश या जिस प्रदेश का अज्ञान नष्ट हो जाएगा वहां मुक्तता का व्यवहार होगा, जिस अंश या प्रदेश का अज्ञान नष्ट नहीं होगा वहां बद्धता का व्यवहार होगा ऐसा उत्तर भी नही दिया जा सकता।" इत्यादि किसी दोष का पूर्वोक्त दृष्टान्त से कोई अवसर नहीं। इसके अतिरिक्त अज्ञान (माया) एक ऐसा तत्व हैं जो असंभव को संभव कर दिखाने में समर्थ हैं। अतः निरंश देशरहित भी आत्मा में अनादि अंश तथा देश उपस्थापित करके

स्थित होकर बद्ध मुक्तादि सर्व व्यवहार सम्पादन कर देता है। अतः अज्ञान तथा अज्ञान कृतकार्य विषयक किसी विरोध शंका का अवकाश नहीं। यह बात पीछे भागवत प्रसंग में दिखा भी चुके हैं।

इस प्रकार अज्ञान, अज्ञान के आश्रय, अज्ञान के विषय, अज्ञान के निवर्तक ज्ञान, अध्यारोप की सामग्री, अज्ञान का जगदुपादान होना, उपादान अज्ञान की आवरण शक्ति के निवृत होने पर भी विक्षेप शक्ति से जगत् की बाधितानुवृत्ति का होना, माया और अविद्या का अभिन्न होना, उनके अवान्तर भेद से जीवेश्वर का भेद होना, एक या अनेक अज्ञान पक्ष में बद्ध मुक्त की व्यवस्था का होना युक्ति से प्रतिपादन कर दिया गया है। मायावाद के खण्डन में जो ६ आक्षेप किये गये हैं, उन सर्व का उचित उत्तर दे दिया गया है, तथा लेखक के समन्वय ग्रन्थ में जो मायावाद के मण्डन में अद्वैत सिद्धि के आधार से साधु शांतिनाथ के द्वारा पांच युक्तियां दी गई हैं, उनका उल्लेख किया है। जिनका खण्डन, समन्वय ग्रंथ में न तो साधु शांति नाथ कृत लिखा न लेखक ने ही लिखा न लिख ही सकते हैं। तब यही सिद्ध हुआ कि सर्वदर्शन ग्रन्थ में जो मायावाद पर आक्षेप किये हैं उनका तो उचित उत्तर वेदान्तियों के पास है तथा जो मायावाद के मण्डन में युक्तियाँ दी हैं उन का खण्डन सम समन्वयवादि विद्वान् तथा विपक्षियों के पास कुछ भी नहीं हैं। ऐसा विचार करने पर यह बात सहज में समझ में आ जाती है कि—खण्डनीय मायावाद के खण्डन, तथा अखण्डनीय मायावाद के मण्डन (सिद्धि) को लिखकर स्वयं मायावाद के जाल में फंसकर, वेदांतियों के ऊपर मिथ्या ही कीचड़ उछाल रहे हैं कि—वेदान्तियों का मायावाद सच-मुच ही मायावियों का माया जाल ही है। ऐसी कीचड उछालना उनका इस लिये स्वाभाविक है कि वे बिचारे माया जाल में फस जो गए। लोक में कहावत है स्वयं नकटा पुरुष नासिका वालों को भी चिल्ला-चिल्ला कर नकटा कहा करता है। यही कहावत इनके ऊपर भी चरितार्थ है।

प्रकीर्ण विचार

लेखक के आत्म सत्ता समन्वयादि अनेक समन्वयों पर हमने अपना विचार प्रकट कर दिया है। आत्म सत्ता समन्वयादि से अतिरिक्त विषयों पर भी समन्वय प्रदर्शित किया है। उन पर सूक्षरूप से ही विचार इस प्रकरण में करते हैं। लेखक का कथन है कि—मेरा तात्पर्य यही है कि जगत् की समुचित व्यवस्था करने में समर्थ तत्व को ही निमित्त कारण कहा जाता है, उस समर्थ तत्व को स्वीकार करके कर्म ईश्वर, स्वभाव, काल आदि किसी

भी नाम द्वारा उसे कथन करने पर वस्तु स्थिति में किंचित् भी अन्तर नहीं आता" इस कथन से कर्म आदिक जड़ पदार्थों में से एक एक को भी जगत् के कारणवादि दर्शनों का तथा कर्मादि के सहित चेतन कारणवादि दर्शनों के साथ समन्वय लेखक ने सिद्ध किया है।

इस पर हमारा कथन यह है कि—कार्य की समुचित व्यवस्था करने में समर्थ, काल कर्मादिक जड़ पदार्थ कभी नहीं कर सकते, क्योंकि ग्रामादिक की समुचित व्यवस्था चेतन के बिना किसी जड़ काल कर्मादि ने कभी नहीं की। अतः काल कर्मादि सहित चेतन तत्व ईश्वर ही निमित्त कारण है। इसलिए ही श्रीमद्भागवत में कहा है—

कालं कर्म स्वभावं च मायेशो मायया स्वया।
आत्मन् यदृच्छया प्राप्तं विबुभूषुरुपाददे ॥ भा० २।५।२१

अर्थ—मायेश = माया अर्थात् मूल प्रकृति के नियन्ता परमेश्वर अपनी प्रकृति से अनेक प्रकार के नाम रूपात्मक जगत् रूप होने की इच्छा वाला हुआ तब उसने अपने आप में लीन काल कर्म स्वभाव को अनायास कारण रूप से स्वीकार किया।

भाव यह है कि ईश्वर चेतन तत्व से अधिष्ठित काल कर्मादि जगत् के निमित्त कारण हो सकते हैं स्वतन्त्र नहीं। अतः स्वतन्त्र काल या कर्मादि किसी एक मात्र जड़ पदार्थ को जगत् का निमित्त कारण कहने वाले दर्शनों का चेतन तत्व ईश्वर से अधिष्ठित कालादि को जगत् का निमित्त कारण कहने वाले दर्शनों के साथ सम-समन्वय कैसे हो सकता है। क्योंकि स्वतन्त्र जड़ पदार्थ में तो कुछ भी व्यवस्था करने की सामर्थ्य ही नहीं हैं। अतः उपरोक्त दर्शनों का सम समन्वय कथमपि संभव नहीं। उसमें प्रमाण दिये तीन श्लोक भी सम-समन्वय में प्रमाण नहीं हैं यह बात हम "प्रमाण नहीं प्रमाणाभास हैं" इस प्रकरण में सिद्ध कर आए हैं, वहां देखिये। यदि समन्वय संभव भी है तो ईश्वर चेतन तत्व कारणवादि दर्शन का अपेक्षित काल कर्मादि का प्रतिपादक होने से सहकारि रूप से ही संभव है, साक्षात् नहीं।

"जड जगत् की उपादान प्रकृति को किसी तरह ईश्वर के स्वरूप में प्रवेश कराके ही अभिन्न-निमित्त उपादान कारणता का कथन किया गया है, वस्तु स्थिति से जड चेतन भिन्न होने के कारण सभी के यहां भिन्न निमित्त उपादान कारणता ही सिद्ध होती है" इस कथन से लेखक ने अभिन्न निमित्तोपादान कारणवाद का भी भिन्न निमित्तोपादान कारण में पर्यवसान कर समन्वय किया है। उसमें हेतु यह दिया कि वस्तु स्थिति से जड चेतन

भिन्न है। परन्तु वेदान्ति जड़ चेतन का तादात्म्य मानता है, अतः वस्तु स्थिति से उसके मत में जड़ चेतन का भेद नहीं है। अतएव भाष्यकारों ने "तस्मात् कारणात् परमार्थतः अनन्यत्वं व्यतिरेकेणाभावः कार्यस्यावगम्यते" इत्यादि वाक्यों से कारणभूत चेतन ब्रह्म से जड़ जगत् की अनन्यता अर्थात् भेदाभाव ही कथन किया है। यदि वेदान्तियों को जड़ चेतन का वस्तु स्थिति से भेद अभिमत होता तो ब्रह्म की अद्वयरूपता क्यों सिद्ध करते।

उक्तविवेचन से यह सिद्ध हो जाने पर कि शकर वेदान्ति में जड़ चेतन का वस्तु स्थिति से भेद नहीं है. तब सभी के यहां भिन्न निमित्तोपादान कारण हो सिद्ध होती है. यह लेखक का कुथन कैसे अभ्रान्त कहा जा सकता है। क्योंकि वेदान्ति के यहां परमार्थतः (वस्तु स्थिति से) जड चेतन का भेद स्वीकार ही नहीं है। अतः कारणवाद का भिन्न निमित्तोपादान कारण में समन्वय करना भी उचित नहीं।

"दुःख निवृत्ति और सुख प्राप्ति ये दोनों एक मुद्रा के दो पार्श्वों की तरह साथ साथ रहने वाले ही सिद्ध होते हैं।" इत्यादि कथन से लेखक, दुःख निवृत्ति और सुख की प्राप्ति को या तो एक मानते हैं या इन दोनों को एक साथ मानते हैं। ऐसा मानकर दुःख की निवृत्ति रूप मोक्ष वालों के साथ परमानन्द रूप से स्थिति रूप मोक्ष मानने वाले वेदान्तियों का समन्वय मानते हैं। परन्तु यह उचित नहीं क्योंकि एकांत में बैठा पुरुष दुःखाभाव अनुभव कर रहा है, उसी समय अभिलाषा के न होने पर भी किसी पुष्प की गन्ध से जो हर्ष उत्पन्न होता है, वह दुःखाभाव दशा से विलक्षण दशा से ही हुआ है। विलक्षणता का हेतु दःखाभाव नहीं क्योंकि दुःखाभाव तो पूर्व भी था किन्तु तादृश हर्ष नहीं, अतः तादश हर्ष का हेतु गन्धानुभव जन्य सुख विशेष है। दुःखाभाव था उस समय तादृश सुख नहीं था तब दोनों को एक मुद्रा के दो पार्श्वों के सदृश नहीं कहा जा सकता। अतः दुःखाभावोपलक्षित परमानन्द स्वरूप आत्मा ही मोक्ष है। अथवा दुःखाभाव को भी कल्पित होने से दुःखाभाव निवृत्ति रूप परमानन्द स्वरूप आत्मा मोक्ष है। यही पक्ष उचित है।

अन्तः करणादिक ज्ञान के साधन न रहने पर भी नित्य ज्ञान स्वरूपात्मानन्द की स्फूर्ति संभव होने से अपुरुषार्थता की शंका नहीं हो सकती। किन्तु जो दुःखाभाव रूप मोक्ष मानते हैं तथा उसको न ज्ञान रूप मानते हैं न उसकी जन्य अनुभूति ही मानते हैं, उनके मत में मोक्ष को अपुरुषार्थता अवश्य प्राप्त होगी। सुषुप्ति कालीन सुख का अनुभव होता है अतःएव

जागकर उसका मैं सुख से सोया ऐसा स्मरण होता है। सौषुप्त सुख का अनुभव होता है तब ही उसको पुरुषार्थता है। ऐसी दशा में अननुभूत सुख या दुःखाभाव पुरुषार्थ है यह नहीं कहा जाने से, अननुभूत या अननुभूति रूप दुःखाभावात्मक मोक्ष मानने वालों के मत में मोक्ष की अपुरुषार्थता अवश्य प्राप्त होगी। वेदान्ति स्वाभिमत परमानन्द रूप मुक्ति की अनुभूति नहीं मानता अतः उसका निराकरण करणा अप्रसक्त प्रतिषेध होने से निरर्थक हैं। वेदान्ति तो स्वाभिमत परमानन्द स्वरूप मुक्ति को अनुभूति स्वरूप मानते हैं। अतः उनके मत में मोक्ष में अपुरुषार्थता की प्राप्ति नहीं। अतः मुक्ति का जड स्वरूप मानने वाले दर्शनों का चेतन स्वरूप मानने वाले वेदान्ति के साथ मुक्ति के विषय में सम समन्वय कभी सम्भव नहीं। सारांश यह है कि लेखक ने अनेक विषयों में सर्व आस्तिक नास्तिक दर्शनों का सम समन्वय दिखाया है। उनमें से अनेक समन्वयों पर हमने विचार कर यह सिद्ध किया है कि दर्शनों का सम समन्वय संभव नहीं है किन्तु समन्वय विचार में प्रदर्शित रीति से नास्तिक दर्शनों का पूर्व पक्ष की उपस्थिति द्वारा आस्तिक दर्शनों में, तथा आस्तिक दर्शनों का चित्त शुद्धि, मनन निदिध्यासन, तत्वं पदार्थ शोधन के प्रकारों के निरूपण द्वारा वेदान्त प्रतिपाद्य एक अद्वितीय नित्यानन्द स्वरूपात्माभिन्न परमात्मा में समन्वय है। यही विद्वानों का तथा व्यास जी महाराज का मान्य समन्वय है।

उपसंहार

लेखने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि "अलौकिक अचिन्त्य ईश्वर को अपनी अल्प बुद्धि के तर्कों से समझने का प्रयास करना, तथा समझ में न आने पर ईश्वर को न मानना सर्वथा ही बालकपना है"। क्योंकि "जो पदार्थ अचिन्त्य हैं, उन्हें तर्क की कसौटी पर न कसे। प्रकृति परे जो पदार्थ हैं उन्हें अचिन्त्य जानो" लेखक के कथन से यह सिद्ध होता है कि प्रकृति से परे आत्मा परमात्मादि पदार्थों के स्वरूप निर्णय करने में प्रत्यक्ष ही नहीं तर्क भी असमर्थ है। प्रत्यक्ष तथा तर्क से अगम्य आत्मादि का निर्णय किस से करे इसका उत्तर लेखक ने कुछ नहीं लिखा किन्तु भाष्यकार भगवत्पाद ने लिखा है कि जन्मान्तर सम्बन्ध्यात्मास्तित्वे जन्मान्तरेष्टानिष्ट प्राप्ति परिहारोपाय विशेषे च शास्त्रं प्रवर्तते। शास्त्रादेव प्रमाणात् जगतो जन्मादि कारणं

ब्रह्मावगम्यते ।। जन्मान्तर सम्बन्धयात्मा के अस्तित्व और जन्मान्तर में इष्ट पदार्थों की प्राप्ति तथा अनिष्ट पदार्थों के परिहार के साधन धर्मादिक में शास्त्र प्रवृत्त होता है । जगत के जन्मादि का कारण ब्रह्म शास्त्र प्रमाण से ही जाना जाता है । भाष्यकार के वचन से यही सिद्ध होता है कि धर्म अधर्म आत्मा परमात्मादि विषय तर्क से अगम्य होने पर भी शास्त्र से ही जाने जाते हैं । लेखक ने भी स्वग्रन्थ में लिखा है कि—"जगत् के मूल कारण परमात्मा, आत्मा, धर्म, अधर्म आदि बुद्धि अगम्य अचिन्त्य पदार्थों की तो बात ही क्या बुद्धिगम्य शारीरिक, सामाजिक, आर्थिक विषयों में भी शास्त्रों का प्रामाण्य मुझे सर्वोपरि मान्य है ।"

लेखक के कथनानुसार भी आत्मा परमात्मादि अचिन्त्य पदार्थ तर्क से नहीं जाने जा सकते । भाष्य के अनुसार वे शास्त्र से ही जाने जाते हैं । लेखक भी सर्व पदार्थों के ज्ञान करने में शास्त्र को ही सर्वोपरि प्रमाण मानते हैं । शास्त्र कौन ? ऐसी आकाँक्षा होने पर भाष्यकार लिखते हैं कि यथोक्त ऋग्वेदादि शास्त्र···**प्रमाणमस्य ब्रह्मणो यथावत्स्वरूपाधिगमे** । ब्रह्म के यथावत् स्वरूप के ज्ञान में ऋग्वेदादि शास्त्र ही प्रमाण है । अर्थात् शास्त्र ऋग्वेदादि हैं, जिनसे अचिन्त्य पदार्थों का निर्णय होता है । उन ऋग्वेदादि शास्त्रों में भी तंत्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि इस श्रुति के अनुसार उपनिषद् भाग आत्मा परमात्मा के स्वरूप के निर्णायक हैं । अतएव शंकराचार्य जी महाराज ने आत्मा परमात्मा के स्वरूप का शास्त्र अर्थात् उपनिषदों से मुख्य रूप से निर्णय किया है ।

लेखक ने शास्त्र को सर्वोपरि प्रमाण माना तो, तथा आत्मा परमात्मा को तर्क से अगम्य भी स्वीकार किया, तथापि शास्त्र से आत्मादि के स्वरूप का निश्चय कर उसमें सर्व दर्शनों का समन्वय न दिखा करके बल तर्क के आधार पर ही आत्मा के स्वरूपादि का कथन कर सम समन्वय कर दिखाया है । ऐसी दशा में अब स्वयं पाठक विद्वान ही सोचें कि जो पदार्थ तर्क से तो अगम्य हों, जिनके जानने में वेदों का शिरोभाग उपनिषदें हीं प्रमाण हों, उन पदार्थों का वेदोपनिषद् शास्त्र प्रमाण से निर्णय न कर केवल तर्क के आधार पर स्वरूप कथन कर उसमें दिखाया हुआ समन्वय कैसे यथार्थ हो सकता है । कैसे आग्रहादि दोषों की निवृत्ति कर शास्त्रीय शान्ति दे सकता है ।

लेखक के ग्रन्थावलोकन से यह प्रतीत होता है कि वे यह समझ चुके हैं कि चाहे आत्मा को कोई ज्ञान गुण वाला माने या ज्ञान स्वरूपादि वे सर्व

मान्यताएँ शास्त्र से ही प्रमाणित हैं। परन्तु वस्तु में विकल्प संभव नहीं क्योंकि जो घटनील है वह नील ही है वह पीत भी हो तथा जो घट है वह पट भी हो ऐसा सम्भव नहीं। अतः आत्म विषयक अनेक विरुद्ध मान्यताएँ शास्त्रीय नहीं हो सकतीं। परन्तु सभी ने अपनी मान्यताओं को शास्त्र प्रमाण देकर सिद्ध किया है तब यह संशय होना स्वाभाविक है कि मान्य हैं तो सभी मान्य हैं, अमान्य हैं तो सभी। इसी लिए साधु शांतिनाथ ने सर्व को अमान्य कर दिया तथा लेखक ने सभी को मान्य कर दिया। अत एव सर्व दर्शनों का सम समन्वय कर दिखाया।

इस पर हमारा विवेचन यह है कि कुछ दर्शन कारों ने तो कतिपय वाक्यों से अपने तर्क से सिद्ध मत को शास्त्रीय बताने का प्रयास किया है। जैसे तर्क से सिद्ध अपने शून्यवाद को शून्यवादी उपनिषद् के इस वाक्य को कि "**अ सदे वेदमग्र आसीत्**" प्रमाण देकर प्रमाणित करे तो वह उचित नहीं क्योंकि विशाल ग्रन्थ में हर प्रकार के वाक्य प्रसंग वशात् आ जाते हैं, उन यत्र तत्र प्रसंग वशात् आए वाक्यों का अर्थ, ग्रन्थ का प्रतिपाद्य नहीं हो सकता। प्रकृत वाक्य को ही लें तो छांदोग्य उपनिषद् में यह कहा है कि "**सदेव सौम्येदमग्र आसीत्**" हे सौम्य ? यह संसार उत्पत्ति से पूर्व सत् ब्रह्म ही था उसके पश्चात् "**तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्**" कोई कहते हैं कि यह संसार उत्पत्ति से पूर्व असत् ही था। उसके पश्चात् "**कथमसतः सज्जायेत**" असत् (शून्य) से सत् (भाव रूप) यह संसार कैसे उत्पन्न हो सकता है, यह कहकर असत्पक्ष का खण्डन कर दिया। उसके पश्चात् "**सत्त्वेव सौम्येदमग्र आसीत्**" हे सौम्य ? यह संसार उत्पत्ति से पूर्व सत् ही था। यह कहकर पुनः सत् पक्ष का मण्डन कर दिया। भाव यह है कि असत् पक्ष उपनिषद् में आया अवश्य किन्तु वह उसका प्रतिपाद्य नहीं। क्योंकि पूर्वापर का विचार करने पर असत्पक्ष में उपनिषद् का तात्पर्य नहीं। तात्पर्य सत्पक्ष में है। वही मान्य है। शास्त्र का तात्पर्यार्थ ही मान्य होता है तात्पर्य अनेक अर्थों में हो नहीं सकता। अतः आत्मादि विषयक परस्पर विरुद्ध मान्यताएँ शास्त्रीय नहीं कही जा सकती हैं।

उपरोक्त कथन में भी यह शंका स्वाभाविक है कि शास्त्रों का तात्पर्य भी सर्व नेन सही कुछ आचार्यों ने स्वाभिमत परस्पर विरुद्ध अर्थों में प्रदर्शन किया है। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि उनमें से अमुक अर्थ ही शास्त्रीय है, अमुक अशास्त्रीय।

इस पर हमारा कहना यह है कि—मनुष्य व्यवहार क्षेत्र में प्रत्यक्ष

तथा अनुमान (तर्क) से ही पदार्थ निर्णय का अभ्यासी है, तथा उसके वे निर्णय सफल भी होते हैं। अतः प्रत्यक्ष तथा तर्क को परीक्षित प्रमाण मानता है।

व्यावहारिक वस्तुओं के लिए परीक्षित प्रमाण होने पर भी प्रत्यक्ष तथा तर्क के अविषय परमात्मादि के स्वरूप के निर्णयार्थ वे परीक्षित प्रमाण नहीं। अतः प्रत्यक्ष तथा तर्क को परीक्षित प्रमाण मान कर उनके विरोध के भय से उनके अनुसार निश्चय किये हुए शास्त्र का तात्पर्यार्थ शास्त्र का प्रतिपाद्य अर्थ नहीं कहा जा सकता। अतः प्रत्यक्ष तथा तर्क से अगम्य परमात्मादि के विषय में प्रत्यक्ष तथा तर्क के विरोध का भय त्याग कर शास्त्र का जो तात्पर्यार्थं निश्चय किया जाएगा वही शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय होगा। यह विशेषता शांकरभाष्य में है, शास्त्र के अहं ब्रह्मास्मि आदि वाक्यों से प्रकरणादि के अनुसार आत्म परमात्मैक्य सिद्ध हो गया तो प्रत्यक्ष विरोध का भय त्याग कर संसार को मिथ्या मान कर अद्वैत तत्व ही शास्त्रार्थ है यह निश्चय कर दिया। शास्त्रैक मात्र का निश्चय होने से यह निश्चय हीं यथार्थ निश्चय है। अतः अद्वैत मतानुसार ही आत्मा तथा बन्ध मोक्षादि अलौकिक विषयों का निर्णय ही निर्णय है वही वेदांत सिद्धांत है उसी में सहकारी होकर सर्व दर्शनों का परम्परा से समन्वय है।

यदि यह आक्षेप किया जाय कि वैदिकों को प्रत्यक्ष प्रमाण का विरोध का भय नहीं है तो **"आदित्यो वै यूपः"** यह यज्ञस्तम्भ सूर्य है. इस वेद वाक्य का वाच्यार्थ यज्ञस्तम्भ तथा सूर्य का अभेद है, उसे वैदिकों ने क्यों नहीं माना तथा उस वाक्य को अर्थ वाद क्यों कहा। इस का समाधान यही है कि, सूर्य परिमाण तथा रज्जु सर्पादि स्थलों में व्यभिचरित भी प्रत्यक्ष प्रमाण प्रबल प्रमाण है, इसलिए **"आदित्यो वै यूपः"** इत्यादि वाक्यों को अर्थवाद माना है ऐसी बात नहीं है। क्योंकि **"अग्निर्वै हिमस्य भेषजम्"** अग्नि शीत की दवा है इत्यादि वैदिक वाक्यों के अर्थ का प्रत्यक्ष से विरोध न होने परभी उनको अर्थवाद माना है। यदि प्रत्यक्ष के विरोध होने से ही अर्थवाद माना जाता तो अग्निर्हिमस्य भेषजम् यह वाक्य अर्थवाद न माना जाता। किन्तु वेद का प्रामाण्य प्रत्यक्षागम्य पदार्थों में है, आदित्यादि लौकिक पदार्थों का स्वरूप निर्णय प्रत्यक्षादि का क्षेत्र है अतः वेद उसका विरोध नहीं करता। प्रत्यक्षागम्य आत्म परमात्म पदार्थ का स्वरूप श्रुति (वेद) का क्षेत्र है, अतः उनके स्वरूप निर्णय में प्रत्यक्ष प्रमाण के विरोध की वेद को कोई चिन्ता नहीं, क्योंकि वह उस प्रत्यक्ष का क्षेत्र नहीं। जो वाक्य विध्यर्थ के स्तावक

होते हैं वे प्रत्यक्ष विरुद्ध या उसके अनुकूल अर्थ कहने वाले प्रतीत हों वे अर्थ वाद होते हैं। अतएव प्रत्यक्ष विरोध की चिन्ता न कर प्रत्यक्षागम्य आत्म परमात्मा के स्वरूप का शास्त्रानुकूल भगवत्पाद श्री शंकराचार्य जी का निर्णय ही शास्त्रीय निर्णय है। वेदान्त दर्शन का ही परमात्मा में साक्षात् तथा अन्य दर्शनों का वेदान्त का सहकारि होकर परम्परा से समन्वय है। सम-समन्वय नहीं।

लेखक ने अपने सम समन्वय में भागवत के तीन श्लोक प्रमाण दिये हैं, जो निम्नलिखित हैं,

युक्तं च सन्ति सर्वत्र भाषन्ते ब्राह्मणा यथा।
मायां मदीयामुदगृह्य वदतां किन्तु दुर्घटम् ॥
नैतदेवं यथात्थत्वं यदहं वच्मितत्तथा।
एवं विवदतां हेतुं शक्तयो मे दुरत्ययाः ॥
यासां व्यतिकरादासीत् विकल्पो वदतां पदम्।
प्राप्ते शमदमेऽप्येति वादस्तमनु शाम्यति ॥ भा० ११।२२।४-६

अर्थ – ब्राह्मणों ने जो कुछ लिखा है वह युक्त ही है। मेरी माया को स्वीकार करके कथन करने वालों के लिए क्या दुर्घट (असम्भव) है। जैसा तुम कहते हो वह ठीक नहीं, किन्तु जैसा मैं कहता हूँ वैसा ही ठीक है। इस प्रकार के विवाद का हेतु मेरी दुरत्यय माया शक्ति ही है जिसके परिणाम से विकल्प होते हैं। शमदम साधनों द्वारा तत्व प्राप्त हो जाने पर उसके पीछे विवाद भी शांत हो जाते हैं।

लेखक ने अपने सम समन्वय तथा उससे प्राप्त विवाद शांति में ये श्लोक प्रमाण दिये हैं, परन्तु ये श्लोक लेखक के समन्वय को नहीं कह रहे हैं, यह बात प्रसंग सहित अर्थ करने पर भलीं प्रकार समझ में आ जाती है। प्रसंग यह है कि १९ वें अध्याय में उद्धव के द्वारा ज्ञान का स्वरूप पूछने पर भगवान् ने कहा—नवैकादश पञ्चत्रीन भावान् भूतेषु येनवै।
ईक्षेतार्थैकमप्येषु तज्ज्ञानं मम निश्चितम् ॥
भा० ११।१९।१४

प्रकृति पुरुष महतत्व अहंकार पंच तन्मात्रा पांच ज्ञानेन्द्रियां पंच कर्मेन्द्रियां एक मन पंच महाभूत तीन गुण इन २८ तत्वों को ब्रह्मादिस्तंब पर्यन्त सर्व कार्यों में अनुगत जिस ज्ञान से देखे। तथा इन सर्व में एक परमात्मतत्व को अनुगत जिस ज्ञान से देखे। अर्थात् कार्यकारणात्मक जगत्

को परम कारण परमात्मात्मक जिस ज्ञान से देखे वही ज्ञान है ऐसा मेरा निश्चय है।

इस प्रकार ज्ञान का लक्षण कर उद्धवके अन्य प्रश्नों का २० वें और २१ वें अध्याय में उत्तर दिया। २२ वें अध्याय के आदि में उद्धवने पुनः प्रश्न किया—

कति तत्वानि विश्वेश संख्यातान्यृषिभिः प्रभो।
नवैकादश पञ्चत्रीण्यात्थत्वमिति शुश्रम ।।
केचिद्षड् विंशति प्राहुरपरे पंच विंशति ~~सप्तेके नव~~
सप्तैके नव षट् के चिच्चित्वार्थेकादशापरे ।।
केचित्सप्तदश प्राहु षोडशैके त्रयोदश ।।

हे प्रभो हे विश्वेश ऋषियों ने अनेक प्रकार से तत्वों का कथन किया है आपने २८ तत्वों का वर्णन किया है। पुरुष के दो भेद मानकर, प्रकृति महतत्व अहंकार पंचतन्मात्रा दश इन्द्रिय एक मन पंचभूत ये २६ तत्व कोई कहते हैं। कोई पुरुष को एक मानकर शेष प्रकृति आदि २४ मिलाकर २५ तत्व कहते हैं। कोई जीव ईश्वर तथा ५ महाभूत इस प्रकार ७ तत्व कहते हैं कोई पंचमहाभूत मन बुद्धि अहंकार तथा पुरुष ये नव तत्व कहते हैं। कोई पंच महाभूत तथा एक पर पुरुष इस प्रकार ६ तत्व कहते हैं कोई अग्नि जल पृथिवी तथा पुरुष इस प्रकार ४ तत्व कहते हैं कोई पंच महाभूत पंच ज्ञानेन्द्रिय एक आत्मायों ११ तत्व कहते हैं कोई पंच महाभूत पंचतन्मात्रा पंच ज्ञानेन्द्रिय तथा आत्मा और मन ये १७ तत्व कहते हैं। कोई उपरोक्त तत्त्वों में से मन का आत्मा में अन्तर्भाव करके षोडश तत्व कहते हैं। कोई पंच महाभूत पंच ज्ञानेन्द्रिय मन तथा आत्मा और परमात्मा ये १३ तत्व कहते हैं। इस उद्धव जी के कथन का अभिप्राय यह है कि इन सर्व के कथन में किन का कथन उचित है। इसके उत्तर में भगवान् ने वे तीनों श्लोक दिये हैं जिनका उल्लेख लेखक ने सर्व दर्शनों के समसमन्वय में प्रमाण रूप से किया है।

भगवान् के उत्तर का भाव यह है कि ऋषियों ने एक दूसरे में अन्तर्भाव मानकर अथवा अन्तर्भाव को न मानकर समास व्यास से जो न्यूनाधिक संख्या में तत्वों का वर्णन, एक अद्वितीय स्वयं ज्योति अज अप्रमेय पुरुष को जानने के लिए किया है वह युक्त ही है। क्योंकि मेरी माया को स्वीकार कर अर्थात् माया कृत कार्य के न्यूनाधिक भेद को न्यूनाधिक मानकर वर्णन करना कुछ कठिन नहीं। इन भेद के विवाद का हेतु मेरी माया शक्ति है अर्थात् मायाकृत

तत्व भेद में ही ऋषियों का विवाद है। उनसे जाने जाने वाले पुरुष में नहीं। उन तत्वों के विचार से उत्पन्न शम (मुझ पुरुष रूप तत्व में बुद्धि की स्थिति) और इन्द्रिय संयम के प्राप्त हो जाने पर विवाद शांत हो जाता है।

भगवान् के वाक्यों के भावार्थ से यह स्पष्ट है कि मायाकृत प्रकृति आदि तत्वों के भेद तथा विवाद को ही युक्त कहा है। पुरुष के स्वरूप भेद अथवा पुरुष की अनित्य गुणवत्ता नित्य गुणवत्ता ज्ञानस्वरूपता कर्ता भोक्ता पन अकर्ता अभोक्तापन मध्यम परिमाणता अणु परिमाणता विभुतादि के विवाद को युक्त नहीं कहा। लेखक पुरुष विषयक उक्त विवाद को उचित मानने में तथा उक्त विवाद युक्त सर्व दर्शनों के सम समन्वय के उचित मानने में प्रमाण दे रहे हैं। अतः उनका यह प्रमाण देना भगवान् के अभिप्राय से सर्वथा विरुद्ध होने से लेखक का समन्वय भगवत्संमत नहीं, अतः सर्वथात्याज्य है अर्थात् अमान्य है।

यद्यपि लेखक का सर्वदर्शन समसमन्वय अप्रामाणिक तथा अप्रयोजन है, तथापि इसको लिखकर वेदान्तियों को कुछ विचार करने का अवसर प्रदान किया है अतः उनके हम आभारी हैं। तथा एतदर्थ उनके २० वर्ष पर्यंत अनवरत भारतीय दर्शनों के अध्ययन की श्लाघा करते हैं।

इति शुभम्



